श्रीवादिदेवसूरिकृत

प्रमाण-नय-तत्त्वालोक

[हिन्दी अर्थ और विवेचन सहित]

विवेचक और अनुवादक

पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ

आचार्य, जैन-गुरुकुल, ब्यावर

प्रकाशक

आत्म-जागृति-कार्यालय

श्री जैन-गुरुकुल-शिक्षण-संघ, ब्यावर

प्रथमावृत्ति } १९४२ { मूल्य दस आना

प्रकाशक —
मन्त्री, आत्म-जागृति कार्यालय,
जैन गुरुकुल, ब्यावर

प्रथमावृत्ति, प्रतियाँ १०००
मूल्य दस आना]   १९४०   [वि सं० १९९८

मुद्रक —
रामस्वरूप मिश्र, मैनेजर
मनोहर प्रिंटिङ्ग वर्क्स ब्यावर

प्रस्तावना

भारतीय दर्शन-शास्त्रों मे जैन दर्शन का स्थान अति महत्व का है और उसका प्रधान कारण उसकी मौलिकता, व्यापकता और विशदता है। जगत् के समस्त झगड़ो और झंझटों का निपटारा करने के लिये जैन-दर्शन ने जो अपूर्व चीज़ जगत् की सेवा मे समर्पित की है वह स्याद्वाद है और यह जैनदर्शन की मौलिकता है। स्याद्वाद ही जैन नीति का मूलमन्त्र है और उसका निर्माण प्रमाण और नय, इन दो तत्त्वो की भित्ति पर ही हुआ है क्योकि जैन दर्शन के ये ही प्राणभूततत्त्व है।

ग्रन्थ का महत्त्व

न्याय-शास्त्र के विशाल मन्दिर मे प्रवेश करने के लिये प्रखर तार्किक श्री देवसूरि ने श्री माणिक्यनन्दि के 'परीक्षा मुख' ग्रंथ की शैली पर प्रस्तुत पुस्तक की रचना करके प्रथम सोपान बना देने का काम किया है।

'प्रमाणनयैरधिगम '—यह बात अनुभवगम्य होने पर भी प्रमाण और नय क्या हैं ? उसके स्वरूप-संख्या-विषय फल आदि क्या है ? उसका विशेष परिचय प्राप्त करना अनिवार्य है। इसलिये प्रस्तुत पुस्तक मे प्रमाण और नय इन दो तत्त्वो पर ही सुन्दर ढग से काफी प्रकाश डाला गया है। यही कारण है कि प्रस्तुत पुस्तक संक्षिप्त होने पर भी सुन्दर और सारगर्भित है। न्याय-शास्त्र के सागर को प्रस्तुत पुस्तक रूपी गागर मे भर देने का जो कौशल सूरिजी ने बताया है वह वास्तव मे प्रशसनीय है। जैन न्याय को अच्छी तरह समझने के लिये इसे कुञ्जी कहा जा सकता है।

ग्रन्थकार का परिचय

श्री देवसूरि गुर्जरदेश के 'मद्दाहृत' नामक नगर में उत्पन्न हुये थे। पोरवाल नामक वैश्य जाति के भूषण थे। उनके पिता 'वीरनाग' और माता 'जिनदेवी' थी। श्री देवसूरि का पूर्व नाम पूर्णचन्द्र था। वि० सं० ११४३ में इनका जन्म हुआ था। वि० सं० ११५२ में उन्होंने बृहत्तपगच्छीय यशोभद्र नेमिचन्द्र सूरि के पट्टालङ्कार श्री मुनिचन्द्र सूरिजी के पास दीक्षा अङ्गीकार की थी। पूर्णचन्द्र ने थोड़े ही समय में अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर लिया। गुरुजी ने इनकी वादशक्ति से संतुष्ट होकर वि० सं० ११७४ मे 'देवसूरि' ऐसा नाम संस्करण करके आचार्य पद प्रदान किया। वि० सं० ११७८ कार्तिक-कृष्णा में गुरुजी का स्वर्गवास हो जाने के बाद श्री देवसूरि ने गुजरात, मारवाड़, मेवाड़ आदि देशों मे विचरण करके धर्म-प्रचार किया और नागौर के राजा आह्लादन, पाटन के प्रतापी राजा सिद्धराज जयसिंह तथा गुर्जरेश्वर कुमारपाल आदि को धर्मानुरागी बनाया था।

श्री देवसूरिजी की वादशक्ति बहुत ही विलक्षण थी। बहुत से विवादों मे उन्होंने विजयलक्ष्मी प्राप्त की थी। कहा जाता है कि पाटन मे सिद्धराज जयसिंह नामक राजा की अध्यक्षता मे एक दिगम्बराचार्य श्री कुमुदचन्द्र के साथ 'स्त्री मुक्ति, केवलिभुक्ति और सवस्त्रमुक्ति' के विषय में सोलह दिन तक वादविवाद हुआ था और उसमे भी विजय प्राप्त करके वादिदेवसूरिजी ने अपनी प्रखर तार्किक बुद्धि का परिचय दिया था।

श्री वादिदेवसूरि जैसे तार्किक थे वैसे ही प्रौढ़ लेखक भी। उन्होने प्रस्तुत ग्रन्थ को विशद करने के लिये 'स्याद्वादरत्नाकर' नामक बृहत् स्वोपज्ञ भाष्य लिख कर अपनी तार्किकता का सुन्दर परिचय

दिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने और भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इस प्रकार श्री देवसूरि धर्मोपदेश, ग्रन्थ-रचना, वाद-विवाद आदि प्रवृत्तियों द्वारा जिनशासन समुज्ज्वल करते हुये वि० सं० १२२६ में भद्रेश्वर सूरि को गच्छभार सौंप कर श्रावण कृष्णा सप्तमी के दिन ऐहिक जीवनलीला समाप्त कर स्वर्गधाम को प्राप्त हुये।

इस ग्रन्थ की टीकाएँ और अनुवाद

इस ग्रंथ की उपयोगिता और उपादेयता इसी से सिद्ध हो जाती है कि खुद ग्रंथकार ने ही इस ग्रन्थ के अर्थगांभीर्य को परिस्फुट करने के लिये ८४ हजार श्लोक-परिमाण में 'स्याद्वादरत्नाकर' नामक बृहद् ग्रंथ रत्न की रचना की है और उन्हीं के शिष्य रत्न श्री रत्नसिंहजी ने 'रत्नाकरावतारिका' नामक सुन्दर सुललित न्याय-ग्रंथ की रचना की है। यह ग्रंथ वर्त्तमान में 'न्यायतीर्थ' की परीक्षा में नियत किया गया है।

स्याद्वादरत्नाकर तो अति विस्तृत होने के कारण उसका अनुवाद होना कठिनसा है लेकिन रत्नाकरावतारिका का तो पण्डितजी जैसे नैयायिक द्वारा सरल सुबोध राष्ट्रीय भाषा में विवेचन और प्रामाणिक अनुवादन करा कर प्रसिद्धि में लाना नितान्त आवश्यक है। ऐसे प्रेरणाप्रद प्रकाशन के द्वारा ही ग्रन्थ-गौरव बढ़ सकता है, न्याय-ग्रन्थ पढ़ने की अभिरुचि बढ़ सकती है और जन-समूह जैन-दर्शन की समृद्धि से परिचित हो सकता है।

ग्रन्थ की उपयोगिता और प्रस्तुत संस्करण

प्रस्तुत ग्रंथ की उपयोगिता को लक्ष्य में लेकर कलकत्ता-संस्कृत-एसोसियेशन ने जैन-न्याय की प्रथमा परीक्षा में इसे स्थान दिया है। प्रतिवर्ष अनेक छात्र जैन न्याय की परीक्षा देते हैं और इस

दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ का पठन-पाठन जैन-समाज में काफी होता है। किन्तु ऐसी उपयोगी पुस्तक का जन-साधारण भी लाभ उठा सके और विषय जटिलता के कारण छात्र जो परेशानी अनुभव कर रहे थे वह दूर की जा सके, इस ओर अभी तक किसी का ध्यान नहीं गया था। इस अभाव की पूर्त्ति आज की जा रही है और वह भी ऐसे प्रौढ़ पण्डितजी के द्वारा जिन्होंने सैकडो की तादाद में छात्रों को न्याय-शास्त्र पढ़ाया है और 'न्यायतीर्थ' भी बना दिया है।

इस सरल सुबोध विवेचन और अनुवाद द्वारा छात्रो की बहुतसी परेशानी कम हो जायगी और जो न्याय-शास्त्र को जटिल समझ कर न्याय शास्त्र से दूर भागते हैं उन्हे यह अनुवाद प्रशस्त पथ-प्रदर्शन करेगा। इसके अतिरिक्त जो संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ है वे भी प्रस्तुत पुस्तक के आधार पर न्यायशास्त्र मे प्रवेश कर सकेंगे।

ग्रन्थ का सम्पादन, विवेचन और अनुवादन कितनी साव-धानी पूर्वक हुआ है यह तो पुस्तक के पठन-पाठन से ज्ञात हो ही जायगा। जैन न्याय के पारिभाषिक शब्दों की विशद व्याख्या इस पुस्तक में की गई है तथा छात्रों की शंकाओं का सप्रमाण समाधान करने का प्रयास किया गया है—यह इसकी विशेषता है जो छात्रों के लिये विशेष उपयोगी सिद्ध होगी।

प्रस्तुत न्याय-ग्रंथ का ऐसा सुन्दर छात्रोपयोगी संस्करण निकालने के लिये अनुवादक और प्रकाशक दोनो धन्यवादार्ह है।

ग्रंथ की उपादेयता पाठ्यक्रम मे अपना स्थान अवश्य प्राप्त कर लेगी ऐसी शुभाशा है। सुज्ञेपु किं बहुना।

ता० १-१-४२ ई०
ब्यावर

—शान्तिलाल वनमाली शेठ

प्रासंगिक

—०—

प्रमाण-नय तत्त्वालोक, न्यायशास्त्र का प्रवेश-ग्रन्थ है। इसे विधिवत् अध्ययन करने के पश्चात ही न्यायशास्त्र में आगे कदम बढाया जा सकता है। यही कारण है कि प्राय सभी श्वेताम्बरीय परीक्षालयो के पाठ्यक्रमो मे यह नियुक्त किया गया है।

इस प्रकार पर्याप्त पठन-पाठन होने पर भी अब तक हिन्दी भाषा मे इसका अनुवाद नही हुआ था। इससे छात्रों को तथा अन्य न्यायशास्त्र के जिज्ञासुओं को बडी अडचन पडती थी। यही अडचन दूर करने के लिए यह प्रयास किया गया है। अनुवाद मे सरलता और सक्षेप का ध्यान रक्खा गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ को पढने वाले विद्यार्थियो के सामने रखकर उनसे 'पास' करा लिया गया है।

न्यायशास्त्र के प्रारम्भिक अभ्यासियो को इससे बहुत कुछ सहायता मिलेगी, ऐसी आशा है। विद्वान अध्यापको से यह अनुरोध है कि वे इसकी त्रुटियाँ दिखलाने की कृपा करे, ताकि आगामी संस्करण अधिक उपयोगी और विशुद्ध हो सके।

—शोभाचन्द्र भारिल्ल

प्रमाण-नय-तत्त्वालोक

के

विषयानुक्रम

१—प्रथम परिच्छेद—प्रमाण का स्वरूप ....पृ० १

२—द्वितीय परिच्छेद—प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद ...... पृ० १४

३—तृतीय परिच्छेद—परोक्ष-प्रमाण का निरूपण... पृ० २६

४—चतुर्थ परिच्छेद—आगम प्रमाण का स्वरूप ... पृ० ७४

५—पञ्चम परिच्छेद—प्रमाण का विषय .... पृ० ६५

६—षष्ठ परिच्छेद—प्रमाण का फल .... पृ० ६६

७—सप्तम परिच्छेद—नय का स्वरूप .... पृ० १३४

८—अष्टम परिच्छेद—वाद का स्वरूप............ पृ० १५६

प्रमाण-नय-तत्त्वालोक

प्रथम परिच्छेद

मंगलाचरण

रागद्वेषविजेतारं, ज्ञातारं विश्ववस्तुनः ।
शक्रपूज्यं गिरामीशं, तीर्थेशं स्मृतिमानये ॥

अर्थ—राग और द्वेष को जीतने वाले—वीतराग, समस्त वस्तुओं को जानने वाले—सर्वज्ञ, इन्द्रों द्वारा पूजनीय तथा वाणी के स्वामी तीर्थंकर भगवान को मैं स्मरण करता हूँ।

विवेचन—ग्रंथ-रचना में आने वाले विघ्नों का निवारण करने के लिए आस्तिक ग्रंथकार अपने ग्रंथ की आदि में मंगलाचरण करते हैं। मंगलाचरण करने से विघ्न-निवारण के अतिरिक्त शिष्टाचार का पालन भी होता है और कृतज्ञता का प्रकाशन भी।

प्रस्तुत मंगलाचरण में 'तीर्थेश' का स्मरण किया गया है। साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, यह चतुर्विध संघ तीर्थ कहलाता है। तीर्थ के स्वामी को तीर्थेश कहते हैं।

तीर्थेश के यहां चार विशेषण हैं। यह विशेषण क्रमशः उनके चार मूल अतिशयों अर्थात् विशिष्टताओं के सूचक हैं। चार

अतिशय यह हैं :— (१) अपायापगम-अतिशय (२) ज्ञान-अतिशय (३) पूजातिशय (४) वचनातिशय।

ग्रंथ का प्रयोजन

प्रमाणनयतत्त्वव्यवस्थापनार्थमिदमुपक्रम्यते ॥१॥

अर्थ—प्रमाण और नय के स्वरूप का निश्चय करने के लिए यह ग्रंथ आरम्भ किया जाता है।

प्रमाण का स्वरूप

स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम् ॥२॥

अर्थ—स्व और पर को निश्चित रूप से जानने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है।

विवेचन—प्रत्येक पदार्थ के निर्णय की कसौटी प्रमाण ही है। अतएव सर्वप्रथम प्रमाण का लक्षण बताया गया है। यहां 'स्व' का अर्थ ज्ञान है और 'पर' का अर्थ है ज्ञान से भिन्न पदार्थ। तात्पर्य यह है कि वही ज्ञान प्रमाण माना जाता है जो अपने-आपको भी जाने और दूसरे पदार्थों को भी जाने, और वह भी यथार्थ तथा निश्चित रूप से।

ज्ञान ही प्रमाण है

अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाणं, अतो ज्ञानमेवेदम् ॥३॥

अर्थ—ग्रहण करने योग्य और त्याग करने योग्य वस्तु को स्वीकार करने तथा त्याग करने में प्रमाण समर्थ होता है, अतः ज्ञान ही प्रमाण है।

विवेचन—उपादेय क्या है और हेय क्या है, इसे बतला देना ही प्रमाण की उपयोगिता है। प्रमाण की यह उपयोगिता तभी सिद्ध हो सकती है जब प्रमाण को ज्ञान रूप माना जाय। यदि प्रमाण ज्ञान रूप न होगा—अज्ञान रूप होगा, तो वह हेय-उपादेय का विवेक नहीं करा सकेगा। जब प्रमाण से हेय-उपादेय का विवेक होता ही है तो उसे ज्ञान रूप ही मानना चाहिए।

अज्ञान प्रमाण नहीं है

न वै सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमुपपन्नं, तस्यार्थान्तरस्येव स्वार्थव्यवसितौ साधकतमत्वानुपपत्तेः ॥४॥

अर्थ—सन्निकर्ष आदि* अज्ञानो को प्रमाणता मानना उचित नहीं है; क्योंकि वे दूसरे पदार्थों (घट आदि) की तरह स्व और पर का निश्चय करने मे साधकतम नही है।

विवेचन—इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध को सन्निकर्ष कहते हैं। वैशेषिक दर्शन मे सन्निकर्ष प्रमाण माना गया है। उसी सन्निकर्ष की प्रमाणता का यहां निषेध किया गया है। पहले यह बतला दिया गया था कि ज्ञान ही प्रमाण हो सकता है, पर सन्निकर्ष ज्ञान रूप नहीं है अतएव वह प्रमाण भी नही हो सकता।

सूत्र का भाव यह है—अज्ञान रूप सन्निकर्ष प्रमाण नही है, क्योकि वह स्व और पर के निश्चय में साधकतम (करण) नहीं है। जो-जो स्व-पर के निश्चय में करण नहीं होता वह प्रमाण भी नहीं होता,

* आदि शब्द से यहां कारक-साकल्य आदि की प्रमाणता का निषेध किया गया है, पर उसका विवेचन कुछ गहन होने से यहाँ छोड़ दिया गया है।

जैसे घट। सन्निकर्ष स्व-पर के निश्चय में करण नहीं है इस कारण प्रमाण नहीं है।

सन्निकर्ष स्व-पर-व्यवसायी नहीं है

न खल्वस्य स्वनिर्णीतौ करणत्वम्, स्तम्भादेरिवाचेतनत्वात्; नाप्यर्थनिश्चितौ स्वनिश्चितावकरणस्य कुम्भादेरिव तत्राप्यकरणत्वात् ॥५॥

अर्थ—सन्निकर्ष आदि स्व-निर्णय में करण नहीं हैं, क्योंकि वे अचेतन हैं; जैसे खम्भा वगैरह। सन्निकर्ष आदि अर्थ (पदार्थ) के निर्णय में भी करण नहीं है, क्योंकि जो स्व-निर्णय में करण नहीं होता वह अर्थ के निर्णय मे भी करण नहीं होता, जैसे घट आदि।

विवेचन—सन्निकर्ष की प्रमाणता का निषेध करने के लिए 'वह स्व-पर के निश्चय मे करण नहीं है' यह हेतु दिया गया था। किन्तु यह हेतु प्रतिवादी-वैशेषिक को सिद्ध नहीं है और न्याय-शास्त्र के अनुसार हेतु प्रतिवादी को भी सिद्ध होना चाहिए। जिस हेतु को प्रतिवादी स्वीकार नहीं करता वह असिद्ध हेत्वाभास हो जाता है। इस प्रकार जब हेतु असिद्ध हो जाता है तब उस हेतु को साध्य बना कर उसे सिद्ध करने के लिए दूसरे हेतु का प्रयोग करना पड़ता है। यहां यही पद्धति उपयोग मे ली गई है। पूर्वोक्त हेतु के दो खण्ड करके दोनों को सिद्ध करने के लिए यहां दो हेतु दिये गये हैं।

भाव यह है—सन्निकर्ष स्व के निश्चय में करण नहीं है, क्योंकि वह अचेतन है; जो-जो अचेतन होता है वह-वह स्व-निश्चय में करण नहीं होता, जैसे स्तम्भ। तथा—

सन्निकर्ष पर-पदार्थ का निश्चय नहीं कर सकता, क्योंकि वह अपना (स्व का) निश्चय नहीं कर सकता; जो अपना निश्चय नहीं कर सकता वह पर-पदार्थ का निश्चय नहीं कर सकता; जैसे घट।

प्रमाण निश्चयात्मक है

तद् व्यवसायस्वभावं समारोपपरिपन्थित्वात् प्रमाणत्वाद् वा ॥६॥

अर्थ—प्रमाण व्यवसाय रूप है, क्योंकि वह समारोप का विरोधी है अथवा प्रमाण व्यवसाय रूप है, क्योंकि वह प्रमाण है।

विवेचन—प्रमाण का लक्षण बताते समय उसे निश्चयात्मक कहा था; पर बौद्ध दर्शन में निर्विकल्प ज्ञान भी प्रमाण माना जाता है। जैनदर्शन में जिसे दर्शनोपयोग कहते हैं और जिसमें सिर्फ सामान्य का बोध होता है वही बौद्धों का निर्विकल्प ज्ञान है। निर्विकल्प ज्ञान की प्रमाणता का निषेध करके यहां यह बताया गया है कि प्रमाण निश्चयात्मक है। निर्विकल्प ज्ञान में 'यह घट है, यह पट है', इत्यादि विशेषों का ज्ञान नहीं होता, इसी कारण यह ज्ञान प्रमाण नहीं है।

यहाँ प्रमाण को व्यवसाय-स्वभाव कहा है, इससे यह भी फलित होता है कि संशय-ज्ञान, विपरीत-ज्ञान और अनध्यवसाय-ज्ञान भी प्रमाण नहीं हैं।

सूत्र का भाव यह है—प्रमाण व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) है, क्योंकि वह समारोप—संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय—का विरोधी है; जो व्यवसायात्मक नहीं होता वह समारोप का विरोधी नहीं होता; जैसे घट। तथा—

प्रमाण व्यवसायात्मक है, क्योंकि वह प्रमाण है, जो व्यवसायात्मक नहीं होता वह प्रमाण भी नहीं होता; जैसे घट।

समारोप

अतस्मिंस्तदध्यवसायः समारोपः ॥७॥
स विपर्ययसंशयानध्यवसायभेदात् त्रेधा ॥८॥

अर्थ—अतद् रूप वस्तु का तद्रूप ज्ञान हो जाना अर्थात् जो वस्तु जैसी नहीं है वैसी मालूम हो जाना, समारोप कहलाता है।

समारोप तीन प्रकार का है—(१) विपर्यय (२) संशय (३) अनध्यवसाय।

विपर्यय-समारोप

विपरीतैककोटिनिष्टङ्कनं विपर्ययः ॥९॥
यथा—शुक्तिकायामिदं रजतमिति ॥१०॥

अर्थ—एक विपरीत धर्म का निश्चय होना विपर्यय-ज्ञान (समारोप) कहलाता है।

जैसे—सीप में 'यह चांदी है' ऐसा ज्ञान होना।

विवेचन—सीप को चांदी समझ लेना, रस्सी को सांप समझ लेना, सांप को रस्सी समझ लेना, आदि-आदि इस प्रकार के मिथ्या ज्ञान को विपरीत या विपर्यय समारोप कहते हैं। इस ज्ञान में वस्तु का एक ही धर्म जान पड़ता है और वह उल्टा जान पड़ता है। अतएव यह मिथ्या-ज्ञान है—प्रमाण नहीं है।

संशय-समारोप

साधकबाधकप्रमाणाभावादनवस्थितानेककोटिसंस्पर्शि ज्ञानं संशयः ॥११॥

यथा—अयं स्थाणुर्वा पुरुषो वा ॥१२॥

अर्थ—साधक प्रमाण और बाधक प्रमाण का अभाव होने से, अनिश्चित अनेक अंशो को छूने वाला ज्ञान संशय कहलाता है।

जैसे—यह ठूंठ है या पुरुष है ?

विवेचन—यहाँ संशय-ज्ञान का स्वरूप और कारण बतलाया गया है। साथ ही उदाहरण का भी उल्लेख कर दिया गया है।

एक ही वस्तु मे अनेक अंशो को स्पर्श करने वाला ज्ञान संशय है, जैसे ठूंठपन और पुरुषपन दो अंश है। इस ज्ञान के समय न ठूंठ को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण होता है, न पुरुष का निषेध करने वाला ही प्रमाण होता है। ठूंठ और पुरुष दोनो में समान रूप से रहने वाली उँचाई मात्र मालूम होती है। एक को दूसरे से भिन्न करने वाला कोई विशेष धर्म मालूम नहीं होता।

विपर्यय और संशय का भेद—विपर्यय ज्ञान मे एक अंश का ज्ञान होता है, सशय मे अनेक अंशो का। विपर्यय मे एक अंश निश्चित होता है, संशय मे दोनो अंश अनिश्चित होते है।

अनध्यवसाय-समारोप

किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः ॥१३॥

यथा-गच्छत्तृणस्पर्शज्ञानम् ॥१४॥

अर्थ—'अरे क्या है ?' इस प्रकार का अत्यन्त सामान्य ज्ञान होना अनध्यवसाय है।

जैसे—जाते समय तिनके के स्पर्श का ज्ञान।

विवेचन—रास्ते में जाते समय, चित्त दूसरी तरफ लगा रहने से तिनके का पैर से स्पर्श होने पर, 'यह क्या है' इस प्रकार का विचार आता है। इसी को अनध्यवसाय कहते है। इस ज्ञान में अतद्रूप वस्तु तद्रूप मालूम नहीं होती, इस कारण समारोप का लक्षण पूर्ण रूप से अनध्यवसाय मे नहीं घटता, किन्तु अनध्यवसाय के द्वारा यथार्थ वस्तु का ज्ञान न होने के कारण इसे उपचार से समारोप माना गया है।

संशय और अनध्यवसाय मे भेद—संशय ज्ञान में भी यद्यपि विशेष वस्तु का निश्चय नहीं होता फिर भी विशेष का स्पर्श होता है; परन्तु अनध्यवसाय संशय से भी उतरती श्रेणी का ज्ञान है। इसमे विशेष का स्पर्श भी नहीं है और इसी कारण इसमे अनेक अंश भी प्रतीत नहीं होते।

'पर' का अर्थ

ज्ञानादन्योऽर्थः परः ॥१५॥

अर्थ—ज्ञान से भिन्न पदार्थ 'पर' कहलाता है।

विवेचन—प्रमाण का लक्षण बताते समय कहा गया था कि जो ज्ञान अपना और पर का निश्चय करता है वह प्रमाण है। सो यहाँ 'पर' शब्द का अर्थ स्पष्ट किया गया है।

पर शब्द का अर्थ समझाने के लिए अलग सूत्र रचने का विशेष प्रयोजन है। घट, पट आदि पदार्थों के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। बौद्धों मे एक माध्यमिक सम्प्रदाय है। वह घट आदि बाह्य पदार्थों को और ज्ञान आदि आन्तरिक पदार्थों को मिथ्या मानता है। वह शून्यवादी है। उसके मत के अनुसार जगत् का यह समस्त प्रपंच मिथ्या है, वास्तव मे कोई भी पदार्थ सत् नहीं है। अनादि कालीन मिथ्या संस्कार के कारण हमे यह पदार्थ मालूम होते है।

माध्यमिक के अतिरिक्त वेदान्ती लोग भी बाह्य पदार्थों को मिथ्या समझते है। इनके मत से एकमात्र ज्ञान–स्वरूप ब्रह्म ही सत् है, ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य समस्त प्रतीत होने वाले पदार्थ असत् है। बौद्धो मे भी एक सम्प्रदाय सिर्फ ज्ञान को वास्तविक मानता है और अन्य पदार्थों को भ्रम मात्र कहता है। इन सब मतो के विरुद्ध, जैन-दर्शन ज्ञान को वास्तविक मानता है और ज्ञान द्वारा प्रतीत होने वाले घट, पट आदि अन्य पदार्थों को भी वास्तविक स्वीकार करता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन और वेदान्त दर्शन का विरोध करने के लिए आचार्य ने इस सूत्र का निर्माण किया है।

स्वव्यवसाय का समर्थन

स्वस्य व्यवसायः स्वाभिमुख्येन प्रकाशनम्, बाह्यस्येव तदाभिमुख्येन; करिकलभकमहमात्मना जानामि ॥१६॥

शब्दार्थ—बाह्य पदार्थ की ओर उन्मुख होने पर जो ज्ञान होता है वह बाह्य पदार्थ का व्यवसाय कहलाता है, इसी प्रकार ज्ञान अपनी ओर उन्मुख होकर जो जानता है वह स्व का व्यवसाय कहलाता है। जैसे—मैं, अपने ज्ञान द्वारा, हाथी के बच्चे को, जानता हूँ।

विवेचन—प्रकाशवान पदार्थों में दो श्रेणियां देखी जाती हैं—(१) प्रथम श्रेणी में वे हैं जो अपने-आपको प्रकाशित नहीं करते, सिर्फ दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करते है, जैसे नेत्र। (२) दूसरी श्रेणी उनकी है जो अपने-आपको भी प्रकाशित करते है और दूसरो को भी प्रकाशित करते हैं, जैसे सूर्य। ज्ञान भी प्रकाशवान पदार्थ है अतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि ज्ञान प्रथम श्रेणी मे है या दूसरी श्रेणी मे? इस सूत्र में इसी प्रश्न का समाधान किया गया है।

मीमांसक और नैयायिक मत के अनुसार ज्ञान प्रथम श्रेणी मे है—वह घट आदि दूसरे पदार्थों को जानता है पर अपने-आपको नहीं जानता। जैन दर्शन के अनुसार ज्ञान अपने-आपको भी जानता है और दूसरे पदार्थों को भी जानता है।

जब हम हाथी के बच्चे को जानते हैं, तब केवल हाथी के बच्चे का ही ज्ञान नहीं होता, वरन 'मैं' इस कर्त्ता का भी ज्ञान होता है, 'जानता हूँ' इस क्रिया का भी ज्ञान होता है और 'अपने ज्ञान से' इस करण रूप ज्ञान का भी ज्ञान होता है।

स्व-व्यवसाय का दृष्टान्त

कः खलु ज्ञानस्यालम्बनं बाह्यं प्रतिभातमभिमन्यमानस्तदपि तत्प्रकारं नाभिमन्येत ? मिहिरालोकवत् ॥१७॥

अर्थ—कौन ऐसा पुरुष है जो ज्ञान के विषयभूत बाह्य पदार्थ को जाना हुआ माने किन्तु ज्ञान को जाना हुआ न माने? सूर्य के आलोक की तरह।

विवेचन—यहाँ भी स्व-व्यवसाय का दृष्टान्त के साथ समर्थन किया गया है। जो ज्ञान बाह्य पदार्थ–घट आदि को जानता है वही अपने-आपको भी जान लेता है। हमें बाह्य पदार्थ का ज्ञान हो जाय किन्तु यह ज्ञान न हो कि 'हमें बाह्य पदार्थ का ज्ञान हुआ है' ऐसा कभी सम्भव नहीं है। बाह्य पदार्थ के जान लेने को जब तक हम न जान लेंगे तब तक वास्तव में बाह्य पदार्थ का जानना संभव नहीं है। जैसे सूर्य के प्रकाश द्वारा घट आदि पदार्थों को जब हम देख लेते हैं तब सूर्य के प्रकाश को भी अवश्य देखते हैं, उसी प्रकार जब ज्ञान द्वारा किसी पदार्थ को जानते हैं तब ज्ञान को भी अवश्य जानते हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश को देखने के लिए दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती उसी प्रकार ज्ञान को जानने के लिए दूसरे ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। जैसे सूर्य अनदेखा नहीं रहता उसी प्रकार ज्ञान भी अनजाना नहीं रहता।

प्रमाणता का स्वरूप

ज्ञानस्य प्रमेयाव्यभिचारित्वं प्रामाण्यम् ॥ तदितरत्त्व-प्रामाण्यम् ॥१८॥

अर्थ—प्रमेय से अव्यभिचारी होना—अर्थात् प्रमेय पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जानना, यही ज्ञान की प्रमाणता है।

इससे विरुद्ध अप्रमाणता है अर्थात् प्रमेय पदार्थ को यथार्थ रूप से न जानना—जैसा नहीं है वैसा जानना—अप्रमाणता है।

विवेचन—जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूप में जानना ज्ञान की प्रमाणता है और अन्य रूप में जानना अप्रमाणता है। प्रमाणता और अप्रमाणता का यह भेद बाह्य पदार्थों की अपेक्षा समझना

चाहिए। प्रत्येक ज्ञान अपने स्वरूप को वास्तविक ही जानता है अतः स्वरूप की अपेक्षा सभी ज्ञान प्रमाण होते हैं; बाह्य पदार्थों की अपेक्षा कोई ज्ञान प्रमाण होता है, कोई अप्रमाण होता है।

प्रमाण की उत्पत्ति और ज्ञप्ति

तदुभयमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञप्तौ तु स्वतः परतश्च ॥१९॥

अर्थ—प्रमाणता और अप्रमाणता की उत्पत्ति परतः ही होती है तथा प्रमाणता और अप्रमाणता की ज्ञप्ति अभ्यास दशा मे स्वतः होती है और अनभ्यास दशा मे परतः होती है।

विवेचन—जिन कारणो से ज्ञान की उत्पत्ति होती है उन कारणो के अतिरिक्त दूसरे कारणो से प्रमाणता का उत्पन्न होना परतः उत्पत्ति कहलाती है। जिन कारणो से ज्ञान का निश्चय होता है उन्ही कारणो से प्रमाणता का निश्चय होना स्वतः ज्ञप्ति कहलाती है और दूसरे कारणो से निश्चय होना परतः ज्ञप्ति कहलाती है।

उत्पत्ति की अपेक्षा ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता—दोनो ही पर निमित्त से उत्पन्न होती है। जब किसी वस्तु के स्वरूप को न जानने वाले पुरुष को कोई विद्वान उसका स्वरूप समझाता है तो वह उस वस्तु के स्वरूप को समझने लगता है। यहाँ समझाने वाले का ज्ञान यदि निर्दोष है तो उस समझने वाले पुरुष के ज्ञान में भी प्रमाणता आ जाती है और यदि समझाने वाले का ज्ञान सदोष है तो उसके ज्ञान मे भी अप्रमाणता आ जाती है। इस प्रकार उस नवीन पुरुष के ज्ञान में प्रमाणता और अप्रमाणता—दोनो ही की उत्पत्ति पर निमित्त से होती है।

जब कोई वस्तु बार-बार के परिचय से अभ्यस्त हो जाती है तो उस वस्तु का ज्ञान होते ही उस ज्ञान की प्रमाणता (सचाई) का भी निश्चय हो जाता है। जैसे—गुरु अपने शिष्य को प्रतिदिन देखता है। इस अभ्यास-दशा में शिष्य का प्रत्यक्ष होते ही गुरु को अपने शिष्य विषयक ज्ञान की प्रमाणता का भी निश्चय हो जाता है। शिष्य को देख कर गुरु यह नहीं सोचता कि मुझे अपने शिष्य का ज्ञान हो रहा है सो यह ज्ञान प्रमाण है या नहीं ? इसी को अभ्यास दशा में स्वतः ज्ञप्ति हो जाना कहते है।

जब कोई वस्तु अपरिचित होती है तब उसका ज्ञान हो जाने पर भी उस ज्ञान की प्रमाणता (सचाई) का निश्चय तत्काल नहीं हो जाता। वह सोचने लगता है—मुझे अमुक वस्तु का ज्ञान हुआ है पर न जाने यह ज्ञान सच्चा है या मिथ्या ? इसके बाद उस ज्ञान को पुष्ट करने वाला कारण अगर मिल जाता है तो उसे अपने ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय हो जाता है; इसी को अनभ्यास दशा मे परतः ज्ञप्ति (निश्चय) कहते हैं। इसके विपरीत यदि ज्ञान को मिथ्या सिद्ध करने वाला कोई कारण मिल जाता है तो वह पुरुष अपने ज्ञान की अप्रमाणता का निश्चय कर लेता है।

यहाँ सामान्य ज्ञान हो जाने पर भी उस ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता का निश्चय दूसरे कारण से होता है। अतएव अनभ्यास दशा में प्रमाणता और अप्रमाणता का निश्चय परतः बतलाया गया है।

मीमांसक लोग प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति स्वतः ही मानते हैं और अप्रामाण्य की उत्पत्ति तथा ज्ञप्ति परतः ही मानते हैं। प्रकृत सूत्र में उनके मत का निरसन किया गया है।

द्वितीय परिच्छेद

प्रत्यक्ष प्रमाण का विवेचन

प्रमाण के भेद

तद् द्विभेदं प्रत्यक्षं च परोक्षं च ॥ १ ॥

अर्थ—प्रमाण दो प्रकार का है—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष

विवेचन—प्रमाण के भेदों के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। अलग-अलग दर्शनकार प्रमाणों की संख्या अलग-अलग मानते हैं। जैसे— चार्वाक—(१) प्रत्यक्ष

बौद्ध—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान

वैशेषिक—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) आगम

नैयायिक—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) आगम (४) उपमान

प्रभाकर—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) आगम (४) उपमान (५) अर्थापत्ति

भाट्ट—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) आगम (४) उपमान (५) अर्थापत्ति (६) अभाव

चार्वाक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मान कर प्रत्यक्ष की प्रमाणता और अनुमान की अप्रमाणता सिद्ध नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त वह परलोक आदि का निषेध भी नहीं कर सकता है। अतएव अनुमान प्रमाण को स्वीकार करना आवश्यक है। शेष समस्त वादियों के माने हुये प्रमाण जैनदर्शन सम्मत दो भेदों में ही अन्तर्गत हो जाते

हैं। आगे तीसरे अध्याय में परोक्ष के पांच भेद बतलाये जायेंगे। उनमें अनुमान और आगम भी हैं। उपमान प्रमाण सादृश्यप्रत्यभिज्ञान नामक परोक्षभेद में अन्तर्गत है और अर्थापत्ति अनुमान से भिन्न नहीं है। अभाव प्रमाण यथायोग्य प्रत्यक्ष आदि में समाविष्ट है। अतएव प्रत्यक्ष और परोक्ष—यह दो भेद ही मानना उचित है।

प्रत्यक्ष का लक्षण

स्पष्टं प्रत्यक्षम् ॥ २ ॥
अनुमानाद्याधिक्येन विशेषप्रकाशनं स्पष्टत्वम् ॥ ३ ॥

अर्थ—स्पष्ट (निर्मल) ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।

अनुमान आदि परोक्ष प्रमाणों की अपेक्षा पदार्थ का वर्ण, आकार आदि विशेष मालूम होना स्पष्टत्व कहलाता है।

विवेचन—प्रत्यक्ष ज्ञान स्पष्ट होता है और परोक्ष अस्पष्ट होता है। यही दोनों प्रमाणों में मुख्य भेद है। प्रत्यक्ष प्रमाण में रहने वाली स्पष्टता क्या है, यह उदाहरण से समझना चाहिए। मान लीजिये—एक बालक को उसके पिता ने अग्नि का ज्ञान शब्द द्वारा करा दिया। बालक ने शब्द (आगम) से अग्नि जान ली। इसके पश्चात् फिर धूम दिखा कर अग्नि का ज्ञान करा दिया। बालक ने अनुमान से अग्नि जान ली। तदनन्तर बालक का पिता जलता हुआ अँगार उठा लाया और बालक के सामने रख कर कहा—देखो, यह अग्नि है। यह प्रत्यक्ष से अग्नि का जानना कहलाया।

यहाँ पहले दो ज्ञानों की अपेक्षा, अन्तिम ज्ञान अर्थात् प्रत्यक्ष द्वारा अग्नि का विशेष वर्ण, स्पर्श आदि का जो साफ-सुथरा ज्ञान

होता है, बस वही ज्ञान की स्पष्टता है। ऐसी स्पष्टता जिस ज्ञान में पाई जाती है वह ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है।

प्रत्यक्ष के भेद

तद् द्विप्रकारं, सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं च ॥ ४ ॥

अर्थ—प्रत्यक्ष प्रमाण दो प्रकार का है— (१) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और (२) पारमार्थिक प्रत्यक्ष।

विवेचन—इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला, एक देश निर्मल ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहलाता है और बिना इन्द्रियों एवं मन की सहायता के, आत्म-स्वरूप से उत्पन्न होने वाला स्पष्ट ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के भेद

तत्राद्यं द्विविधमिन्द्रियनिबन्धनमनिन्द्रियनिबन्धनं च॥५॥

अर्थ—सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का है— (१) इन्द्रिय-निबन्धन और (२) अनिन्द्रियनिबन्धन।

विवेचन—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण—इन पांच इन्द्रियों की सहायता से उत्पन्न होने वाला ज्ञान इन्द्रियनिबन्धन कहलाता है और मन की सहायता से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनिन्द्रियनिबन्धन कहलाता है।

इन्द्रिय जन्य ज्ञान में भी मन की सहायता की अपेक्षा रहती

है, पर इन्द्रियाँ वहां असाधारण कारण हैं, अतएव उसे इन्द्रिय-निबंधन नाम दिया गया है।

इन्द्रियनिबन्धन—अनिन्द्रियनिबन्धन के भेद

एतद् द्वितयमवग्रहेहावायधारणाभेदादेकशश्चतुर्विकल्पकम् ॥ ६ ॥

अर्थ—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के भेद से यह दोनों प्रकार का सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष चार-चार प्रकार का है। अर्थात् इन्द्रियनिबन्धन के भी चार भेद है और अनिन्द्रियनिबन्धन के भी चार भेद हैं।

अवग्रह का स्वरूप

विषयविषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनाज्जातं, आद्यं, अवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः ॥ ७ ॥

अर्थ—विषय (पदार्थ) और विषयी (चक्षु आदि) का यथोचित देश में सम्बन्ध होने पर सत्तामात्र को जानने वाला दर्शन उत्पन्न होता है। इसके अनन्तर सब से पहले, मनुष्यत्व आदि अवान्तर सामान्य से युक्त वस्तु को जानने वाला ज्ञान अवग्रह कहलाता है।

विवेचन—जैन शास्त्रों में दो उपयोग प्रसिद्ध हैं—दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग। पहले दर्शनोपयोग होता है फिर ज्ञानोपयोग होता है। यहां ज्ञानोपयोग का वर्णन करने के लिये उससे पूर्वभावी दर्शनोपयोग का भी कथन किया गया है।

विषय अर्थात् घट आदि पदार्थ और विषयी अर्थात् नेत्र आदि जब योग्य देश में मिलते हैं तब सर्वप्रथम दर्शनोपयोग उत्पन्न होता है। दर्शन महासामान्य अथवा सत्ता को ही जानता है। इसके पश्चात् उपयोग कुछ आगे की ओर बढ़ता है और वह मनुष्यत्व आदि अवान्तरसामान्य युक्त वस्तु को जान लेता है। यह अवान्तर सामान्य युक्त वस्तु अर्थात् मनुष्यत्व आदि का ज्ञान ही अवग्रह कहलाता है।

ज्ञान की यह धारा उत्तरोत्तर विशेष की ओर झुकती जाती है, जैसा कि अगले सूत्रों से ज्ञात होगा।

ईहा का स्वरूप

अवगृहीतार्थविशेषाकांक्षणमीहा ॥ ८ ॥

अर्थ—अवग्रह से जाने हुये पदार्थ में विशेष जानने की इच्छा ईहा है।

विवेचन—'यह मनुष्य है' ऐसा अवग्रह ज्ञान से जान पाया था। इससे भी अधिक 'यह दक्षिणी है या पूर्वी' इस प्रकार विशेष को जानने की इच्छा होना ईहा ज्ञान कहलाता है। ईहा ज्ञान 'यह दक्षिणी होना चाहिये' यहाँ तक पहुँच पाता है।

अवाय का स्वरूप

ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः ॥ ९ ॥

अर्थ—ईहा द्वारा जाने हुये पदार्थ में विशेष का निर्णय हो जाना अवाय है।

विवेचन—'यह मनुष्य दक्षिणी होना चाहिये' इतना ज्ञान ईहा

द्वारा हो चुका था, उसमें विशेष का निश्चय हो जाना अवाय है। जैसे—'यह मनुष्य दक्षिणी ही है।'

धारणा का स्वरूप

स एव दृढ़तमावस्थापन्नो धारणा ॥ १० ॥

अर्थ—अवाय ज्ञान जब अत्यन्त दृढ़ हो जाता है तब वही अवाय, धारणा कहलाता है।

विवेचन—धारणा का अर्थ संस्कार है। हृदय-पटल पर यह ज्ञान इस प्रकार अंकित हो जाता है कि कालान्तर मे भी वह जागृत हो सकता है। इसी ज्ञान से स्मरण होता है।

ईहा और संशय का अन्तर

संशयपूर्वकत्वादीहायाः संशयाद् भेदः ॥ ११ ॥

अर्थ—ईहा ज्ञान संशयपूर्वक होता है अतः वह संशय से भिन्न है।

विवेचन—ईहा ज्ञान में विशेष का निश्चय नहीं होता और संशय भी अनिश्चयात्मक है, ऐसी अवस्था मे दोनो मे क्या भेद है? इस प्रश्न का समाधान यहाँ यह किया गया है कि संशय पहले होता है और ईहा बाद मे उत्पन्न होती है अतएव दोनों भिन्न २ है। इसके अतिरिक्त—

संशय मे दोनों पलड़े बराबर होते हैं—दक्षिणी और पश्चिमी की दोनो कोटियाँ तुल्य बल वाली होती हैं; ईहा में एक पलड़ा भारी

हो जाता है—'यह दक्षिणी होना चाहिये' इस प्रकार ज्ञान एक ओर को झुका रहता है। अतएव संशय और ईहा दोनो एक नही हैं।

अवग्रहादि का भेदाभेद

कथञ्चिदभेदेऽपि परिणामविशेषादेषां व्यपदेशभेदः ॥१२॥

अर्थ—दर्शन, अवग्रह आदि मे कथंचित् अभेद होने पर भी परिणाम के भेद से इनके भिन्न २ नाम दिए गए हैं।

विवेचन—जीव का लक्षण उपयोग है। उसी उपयोग की भिन्न २ अवस्थाएँ होती हैं और वही अवस्थाएँ यहाँ दर्शन, अवग्रह ईहा आदि भिन्न २ नामो मे बताई गई है। इन अवस्थाओ से उपयोग की उत्पत्ति और उत्तरोत्तर विकास का क्रम जाना जाता है। जैसे प्रत्येक मनुष्य शिशु, बालक, कुमार, युवक, प्रौढ़ आदि अवस्थाओ को क्रम-पूर्वक ही प्राप्त करता है उसी प्रकार उपयोग भी दर्शन, अवग्रह आदि अवस्थाओ को क्रम से पार करता हुआ ही धारणा की अवस्था प्राप्त करता है। शिशु आदि अवस्थाओ मे मनुष्य एक ही है फिर भी परिणमन के भेद से अवस्थाएँ भिन्न २ कहलाती हैं उसी प्रकार उपयोग एक होने पर भी परिणमन (विकास) की दृष्टि से अवग्रह आदि भिन्न २ कहलाते है। जैन परिभाषा मे इसी को द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अभेद और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा भेद कहते हैं।

अवग्रह आदि की भिन्नता

असामस्त्येनाप्युत्पद्यमानत्वेनाऽसंकीर्णस्वभावतयाऽनुभूयमानत्वात्, अपूर्वापूर्ववस्तुपर्यायप्रकाशकत्वात्, क्रमभावित्वाच्चैते व्यतिरिच्यन्ते ॥१३॥

अर्थ—असमस्त रूप से भी उत्पन्न होने के कारण भिन्न २ स्वभाव वाले मालूम होते है, वस्तु की नवीन २ पर्याय को प्रकाशित करते है और क्रम से उत्पन्न होते हैं, अतः अवग्रह आदि भिन्न २ है।

विवेचन—अवग्रह आदि का भेद सिद्ध करने के लिये यहाँ तीन हेतु बताये गये हैं:—

(१) पहला हेतु—कभी सिर्फ दर्शन ही होता है, कभी दर्शन और अवग्रह—दो ही उत्पन्न होते है, इसी प्रकार कभी तीन, कभी चार ज्ञान भी उत्पन्न होते है। इससे प्रतीत होता है कि दर्शन, अवग्रह आदि भिन्न-भिन्न है। यदि यह अभिन्न होते तो एक साथ पाँचो ज्ञान उत्पन्न होते अथवा एक भी न होता।

(२) दूसरा हेतु—पदार्थ की नई-नई पर्याय को प्रकाशित करने के कारण भी दर्शन आदि भिन्न-भिन्न सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह है कि सर्वप्रथम दर्शन पदार्थ मे रहने वाले महा सामान्य को जानता है, फिर अवग्रह अवान्तर सामान्य को जानता है, ईहा विशेष की ओर झुकता है, अवाय विशेष का निश्चय कर देता है और धारणा मे वह निश्चय अत्यन्त दृढ़ बन जाता है। इस प्रकार प्रत्येक ज्ञान नवीन-नवीन धर्म को जानता है और इससे उनमें भेद सिद्ध होता है।

(३) तीसरा हेतु—पहले दर्शन, फिर अवग्रह आदि इस प्रकार क्रम से ही यह ज्ञान उत्पन्न होते हैं, अतः भिन्न-भिन्न हैं।

दर्शन-अवग्रह आदि का क्रम

क्रमोऽप्यमीषामयमेव तथैव संवेदनात्; एवंक्रमाविर्भूतनिजकर्मक्षयोपशमजन्यत्वाच्च ॥१४॥

अन्यथा प्रमेयानवगतिप्रसङ्गः ॥१५॥

न खलु अदृष्टमवगृह्यते, न चाऽनवगृहीतं संदिह्यते, न चासंदिग्धमीह्यते, न चानीहितमवेयते, नाप्यनवेतं धार्यते ॥१६॥

अर्थ—अवग्रह आदि का क्रम भी यही (पूर्वोक्त) है, क्योंकि इसी क्रम से ज्ञान होता है।

यदि यही क्रम न माना जाय तो प्रमेय का ज्ञान नहीं हो सकता।

जिसका दर्शन नहीं होता उसका अवग्रह नहीं होता, बिना अवग्रह के ईहा द्वारा पदार्थ नहीं जाना जाता, बिना ईहा हुये अवाय नहीं होता, बिना अवाय के धारणा की उत्पत्ति नहीं होती।

विवेचन—पहले दर्शन, फिर अवग्रह, फिर संदेह, फिर ईहा, फिर अवाय और तदनन्तर धारणा ज्ञान उत्पन्न होता है। यही अनुभव का क्रम है। यदि इस क्रम को स्वीकार न किया जाय तो किसी भी पदार्थ का ज्ञान होना असंभव है; क्योंकि जब तक दर्शन के द्वारा पदार्थ की सत्ता का आभास नहीं होता तब तक मनुष्यत्व आदि अवान्तर सामान्य ज्ञात नहीं होंगे, अवान्तर सामान्य के ज्ञान बिना 'यह दक्षिणी है या पश्चिमी' इस प्रकार का संदेह नहीं उत्पन्न होगा, संदेह के बिना 'यह दक्षिणी होना चाहिये' इस प्रकार का ईहा ज्ञान न होगा; इसी प्रकार अगले ज्ञानों का भी अभाव हो जायगा। अतः दर्शन, अवग्रह आदि का उक्त क्रम ही मानना युक्ति और अनुभव से संगत है।

क्वचित् क्रमस्यानुपलक्षणमेषामाशूत्पादात्, उत्पलपत्रशतव्यतिभेदक्रमवत् ॥१७॥

अर्थ—कहीं क्रम मालूम नहीं पड़ता क्योंकि यह सब ज्ञान शीघ्र ही उत्पन्न हो जाते हैं; कमल के सौ पत्तों को छेदने की तरह।

विवेचन—जो वस्तु अत्यन्त परिचित होती है उसमें पहले दर्शन हुआ, फिर अवग्रह हुआ, इत्यादि क्रम का अनुभव नहीं होता। इसका कारण यह नहीं है कि वहाँ दर्शन आदि के बिना ही सीधा अवाय या धारणा ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। वहाँ पर भी पूर्वोक्त क्रम से ही ज्ञानों की उत्पत्ति होती है किन्तु प्रगाढ़ परिचय के कारण वह सब बहुत शीघ्र उत्पन्न हो जाते है। इसी कारण क्रम का अनुभव नहीं होता। एक दूसरे के ऊपर कमल के सौ पत्ते रखकर उनमें नुकीला भाला घुसेड़ा जाय तो वे सब पत्ते क्रम से ही छिदेंगे पर यह मालूम नहीं पड़ पाता कि भाला कब पहले पत्ते में घुसा, कब उससे बाहर निकला, कब दूसरे पत्ते में घुसा आदि। इसका कारण शीघ्रता ही है। जब भाले का वेग इतना तीव्र हो सकता है तो ज्ञान जैसे सूक्ष्मतर पदार्थ का वेग उससे भी अधिक तीव्र क्यों न होगा ?

पारमार्थिक प्रत्यक्ष

पारमार्थिकं पुनरुत्पत्तावात्ममात्रापेक्षम् ॥१८॥

अर्थ—जो ज्ञान आत्मा से ही उत्पन्न होता है उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

विवेचन—पारमार्थिक प्रत्यक्ष अर्थात् वास्तविक प्रत्यक्ष। यह प्रत्यक्ष सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की भाँति इन्द्रियों और मन से उत्पन्न नहीं होता किन्तु आत्म-स्वरूप से उत्पन्न होता है। इसी कारण इसे मुख्य प्रत्यक्ष भी कहते हैं। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य और मनोजन्य होने के कारण वस्तुतः परोक्ष है किन्तु लोक में वह प्रत्यक्ष

माना जाता है अतः लोक-व्यवहार के अनुरोध से उसे भी प्रत्यक्ष कहा है।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भेद

तद् विकलं सकलं च ॥१९॥

अर्थ—पारमार्थिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का है— (१) विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष और (२) सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष।

विवेचन—जो वस्तुतः प्रत्यक्ष हो किन्तु विकल अर्थात् अधूरा या असम्पूर्ण हो उसे विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं और जो संपूर्ण है—कोई भी पदार्थ जिस प्रत्यक्ष से बाहर नहीं है, उसे सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

विकलपारमार्थिक प्रत्यक्ष के भेद

तत्र विकलमवधिमनःपर्यायज्ञानरूपतया द्वेधा ॥२०॥

अर्थ—विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—
(१) अवधिज्ञान और (२) मनःपर्याय ज्ञान।

अवधिज्ञान का स्वरूप

अवधिज्ञानावरणविलयविशेषसमुद्भवं भवगुणप्रत्ययं रूपिद्रव्यगोचरमवधिज्ञानम् ॥२१॥

अर्थ—अवधिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला, भवप्रत्यय तथा गुणप्रत्यय, रूपी द्रव्यों को जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान कहलाता है।

विवेचन—यहाँ अवधिज्ञान का स्वरूप बताते हुए उसके उत्पादक कारण और उसके विषय का उल्लेख किया गया है।

अवधिज्ञान के उत्पादक दो कारण हैं—अन्तरंग कारण और बहिरंग कारण। अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम अन्तरंग कारण है और देवभव और नरकभव या तपश्चरण आदि गुण बहिरंग कारण हैं। देवभव या नरकभव से जो अवधिज्ञान होता है उसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं और तपश्चर्या आदि से होने वाला अवधिज्ञान गुणप्रत्यय कहलाता है। दोनों प्रकार के इन ज्ञानो में अन्तरंग कारण समान रूप से होता है। देवों और नारकी जीवो को भवप्रत्यय अवधिज्ञान होता है और मनुष्यों तथा तिर्यञ्चो को गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है। मगर सब देवों और नारकों के समान सब मनुष्यों और तिर्यञ्चो को यह ज्ञान नहीं होता।

अवधिज्ञान सिर्फ रूपी पदार्थों को जानता है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श वाले पदार्थ को रूपी कहते हैं। केवल पुद्गल द्रव्य ही रूपी है।

मनःपर्याय ज्ञान का स्वरूप

संयमविशुद्धिनिबन्धनाद्, विशिष्टावरणविच्छेदाज्जातं, मनोद्रव्यपर्यायालम्बनं मनःपर्यायज्ञानम् ॥२२॥

अर्थ—जो ज्ञान संयम की विशिष्ट शुद्धि से उत्पन्न होता है, तथा मनःपर्याय ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है और मन सम्बन्धी बात को जान लेता है उसे मनःपर्याय ज्ञान कहते है।

विवेचन—संयम की विशुद्धता मनःपर्यायज्ञान का बहिरंग

कारण है और मनःपर्यायज्ञानावरण का क्षयोपशम अन्तरंग कारण है। इन दोनों कारणों के मिलने पर उत्पन्न होने वाला तथा संज्ञी जीवों के मन की बात जानने वाला ज्ञान मनःपर्याय कहलाता है।

सकल प्रत्यक्ष का स्वरूप

सकलं तु सामग्रीविशेषतः समुद्भूतं समस्तावरणक्षयापेक्षं, निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारिस्वरूपं केवलज्ञानम् ॥२३॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन आदि अन्तरंग सामग्री और तपश्चर्या आदि बाह्य सामग्री से समस्त घाति कर्मों का क्षय होने पर उत्पन्न होने वाला तथा समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायों को प्रत्यक्ष करने वाला केवलज्ञान सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है।

विवेचन—यहाँ भी सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष के उत्पादक कारण और उसके विषय का उल्लेख करके उसका स्वरूप समझाया गया है। जब केवलज्ञान की बाह्य और अन्तरंग सामग्री प्रस्तुत होती है और चारों घातिया कर्मों का क्षय—पूर्ण रूपेण विनाश हो जाता है तब यह ज्ञान उत्पन्न होता है। यह ज्ञान सब द्रव्यों को और उनकी त्रैकालिक सब पर्यायों को युगपत् जानता है। यह ज्ञान प्राप्त करने वाला महापुरुष केवली या सर्वज्ञ कहलाता है। यह ज्ञान क्षायिक है, शेष सब क्षायोपशमिक।

मीमांसक मत वाले सर्वज्ञ नहीं मानते। इस सूत्र में उनके मत का विरोध किया गया है।

अर्हन्त ही सर्वज्ञ हैं

तद्वानर्हन्निर्दोषत्वात् ॥२४॥

निर्दोषोऽसौ प्रमाणाविरोधिवाक्त्वात् ॥२५॥

तदिष्टस्य प्रमाणेनाबाध्यमानत्वात्, तद्वाचस्तेनाविरोधसिद्धिः ॥२६॥

अर्थ—अर्हन्त भगवान ही केवलज्ञानी (सर्वज्ञ) हैं क्योकि वे निर्दोष हैं ॥

अर्हन्त भगवान निर्दोष हैं, क्योकि उनके वचन प्रमाण से विरुद्ध नही हैं ॥

अर्हन्त भगवान के वचन प्रमाण से विरुद्ध नही हैं, क्योंकि उनका (स्याद्वाद) मत प्रमाण से खण्डित नहीं होता।

विवेचन—ऊपर के सूत्र में केवलज्ञान का विधान करके यहाँ अर्हन्त भगवान् को ही केवलज्ञानी सिद्ध किया गया है । अर्हन्त भगवान् को केवली सिद्ध करने के लिए निर्दोषत्व हेतु दिया है । निर्दोषत्व हेतु को सिद्ध करने के लिए 'प्रमाणाविरोधि वचन' हेतु दिया है और इस हेतु को सिद्ध करने के लिए 'अर्हन्त भगवान् के मत की अबाधितता' हेतु दिया गया है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार करना चाहियेः--

(१) अर्हन्त ही सर्वज्ञ हैं, क्योंकि वे निर्दोष हैं, जो सर्वज्ञ नही होता वह निर्दोष नही होता, जैसे हम सब लोग । (व्यतिरेकी हेतु)

(२) अर्हन्त निर्दोष हैं, क्योंकि उनके वचन प्रमाण से अविरुद्ध हैं। जो निर्दोष नहीं होते उनके वचन प्रमाण से अविरुद्ध नहीं होते, जैसे हम सब लोग। (व्यति० हेतु)

(३) अर्हन्त के वचन प्रमाण से अविरुद्ध हैं, क्योंकि उनका मत प्रमाण से खण्डित नहीं होता। जिसका मत प्रमाण से खण्डित नहीं होता वह प्रमाण से अविरुद्ध वचन वाला होता है। जैसे रोग के विषय में कुशल वैद्य।

उपर्युक्त हेतुओं से यह सिद्ध हुआ कि अर्हन्त भगवान् ही सर्वज्ञ हैं, अन्य कपिल, सुगत आदि नहीं। साथ ही जो लोग जगत्कर्त्ता ईश्वर को ही सर्वज्ञ मानते हैं उनका भी खण्डन होगया।

कवलाहार और केवलज्ञान

न च कवलाहारवत्त्वेन तस्यासर्वज्ञत्वं, कवलाहार-सर्वज्ञत्वयोरविरोधात् ॥२७॥

अर्थ—अर्हन्त भगवान् कवलाहारी होने से असर्वज्ञ नहीं हैं, क्योंकि कवलाहार और सर्वज्ञता में विरोध नहीं है।

विवेचन—दिगम्बर जैन सम्प्रदाय की यह मान्यता है कि कवलाहार करने वाला सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इस मान्यता का विरोध करते हुए यहाँ दोनों का अविरोध बताया गया है। दोनों में विरोध न होने से कवलाहार करने पर भी अर्हन्त सर्वज्ञ हो सकते हैं।

तृतीय परिच्छेद

परोक्ष प्रमाण का निरूपण

परोक्ष प्रमाण का लक्षण

अस्पष्टं परोक्षम् ॥१॥

अर्थ—अस्पष्ट ज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहते हैं।

विवेचन—प्रमाण विशेष के स्वरूप में प्रमाण सामान्य के स्वरूप का अध्याहार है, अतः परोक्ष प्रमाण का स्वरूप इस प्रकार होगा:—जो ज्ञान स्व-पर का निश्चायक होते हुए अस्पष्ट होता है उसे परोक्ष प्रमाण कहते हैं। स्पष्टता का विवेचन द्वितीय परिच्छेद में किया गया है, उसका न होना अस्पष्टता है।

परोक्ष प्रमाण के भेद

स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदतस्तत् पञ्च प्रकारम् ॥२॥

अर्थ—परोक्ष प्रमाण पांच प्रकार का है:— (१) स्मरण प्रत्यभिज्ञान (३) तर्क (४) अनुमान (५) आगम

स्मरण का लक्षण

तत्र संस्कारप्रबोधसम्भूतं, अनुभूतार्थविषयं, तदित्याकारं वेदनं स्मरणम् ॥३॥

तत्तीर्थकरबिम्बमिति यथा ॥४॥

अर्थ—संस्कार (धारणा) के जागृत होने में उत्पन्न होने वाला, पहले जाने हुए पदार्थ को जानने वाला, 'वह' इस आकार वाला, ज्ञान स्मरण है। जैसे वह तीर्थङ्कर का बिम्ब।

विवेचन—यहाँ और आगे ज्ञान का कारण, विषय तथा आकार इन तीन बातों का उल्लेख करके उसका स्वरूप बताया गया है।

स्मरण, धारणा रूप संस्कार के जागृत होने पर उत्पन्न होता है, प्रत्यक्ष अनुमान, आगम आदि किसी भी प्रमाण से पहले जाने हुए पदार्थ को ही जानता है और 'वह' (तत्) शब्द से उसका उल्लेख किया जा सकता है। जैसे—'वह (पहले देखी हुई) तीर्थङ्कर की प्रतिमा।'

कुछ लोग स्मरण को प्रमाण नहीं मानते, यह ठीक नहीं है। स्मरण को प्रमाण माने बिना अनुमान प्रमाण नहीं बनेगा, क्योंकि वह व्याप्ति के स्मरण से उत्पन्न होता है। लेन देन आदि लौकिक व्यवहार भी स्मरण की प्रमाणता के बिना बिगड़ जाएँगे।

प्रत्यभिज्ञान का लक्षण

अनुभवस्मृतिहेतुकं, तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं, संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् ॥५॥

यथा-तज्जातीय एवायं गोपिण्डः, गोसदृशो गवयः, स एवायं जिनदत्त इत्यादि ॥६॥

अर्थ—प्रत्यक्ष और स्मरण से उत्पन्न होने वाला, तिर्यक् सामान्य अथवा ऊर्ध्वता सामान्य को जानने वाला, जोड़ रूप ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है॥

जैसे—यह गाय उस गाय के समान है, गवय (रोझ) गाय के समान होता है, यह वही जिनदत्त है; आदि ॥

विवेचन—किसी के मुँह से हमने सुना था कि गवय, गाय के समान होता है। कुछ दिन बाद हमें गवय दिखाई दिया। उसे देखते ही हमें 'गवय गाय के सदृश होता है,' इस वाक्य का स्मरण हुआ। इस अवस्था में गवय का प्रत्यक्ष होरहा है और पहले सुने हुए वाक्य का स्मरण होरहा है। इन दोनों ज्ञानों के मेल से जो ज्ञान होता है वही प्रत्यभिज्ञान है।

कल जिनदत्त को देखा था, आज वह फिर सामने आया। तब इस समय उसका प्रत्यक्ष होता है और कल देखने का स्मरण होता है। बस, इन प्रत्यक्ष और स्मरण के मिलने से 'यह वही जिन-दत्त है' ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है।

इन दो उदाहरणों को ध्यान से देखो तो ज्ञात होगा कि एक में सदृशता प्रतीत होती है और दूसरे में एकता। सदृशता को जानने वाला सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कहलाता है, एकता को जानने वाला एकत्व-प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। इसी प्रकार 'यह उससे विलक्षण है', 'यह उससे बड़ा या छोटा है' इत्यादि अनेक प्रकार के प्रत्यभिज्ञान होते हैं।

नैयायिक लोग सादृश्य को जानने वाला उपमान नामक प्रमाण अलग मानते हैं, यह ठीक नहीं है। ऐसा मानने पर तो एकता, विलक्षणता, आदि को जानने वाले प्रमाण भी अलग-अलग मानने

पड़ेंगे। कई लोग प्रत्यभिज्ञान को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते, पर एकता और सदृशता दूसरे किसी भी प्रमाण से नहीं जानी जाती, अतएव उसे पृथक् प्रमाण मानना चाहिए।

तर्क का लक्षण

उपलम्भानुपलम्भसम्भवं, त्रिकालीकलितसाध्यसाधन-सम्बन्धाद्यालम्बनं, 'इदमस्मिन् सत्येव भवति' इत्याद्याकारं संवेदनमूहापरनामा तर्कः ॥७॥

यथा यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वो वह्नौ सत्येव भवतीति; तस्मिन्नसत्यसौ न भवत्येवेति ॥८॥

अर्थ—उपलम्भ और अनुपलम्भ से होने वाला, तीन काल सम्बन्धी व्याप्ति को जानने वाला, 'यह इसके होने पर ही होता है' इत्यादि आकारवाला ज्ञान तर्क है। ऊहा उसका दूसरा नाम है ॥

जैसे—जितना भी धूम होता है वह सब अग्नि के होने पर ही होता है, अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता ॥

विवेचन—जहाँ २ धूम होता है वहाँ २ अग्नि होती है। इस प्रकार के अविनाभाव सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। यह अविनाभाव सम्बन्ध तीनों कालों के लिये होता है। जिस ज्ञान से इस सम्बन्ध का निर्णय होता है उसे तर्क कहते हैं। तर्क ज्ञान उपलम्भ और अनुपलम्भ से उत्पन्न होता है। धूम और अग्नि को एक साथ देखना उपलम्भ है और अग्नि के अभाव में धूम का अभाव जानना अनुपलम्भ है। बार-बार उपलम्भ और बार-बार अनुपलम्भ होने से व्याप्ति का ज्ञान (तर्क) उत्पन्न हो जाता है।

तर्क ज्ञान को अगर प्रमाण न माना जाय तो अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति नहीं हो सकती। तर्क से धूम और अग्नि का अविनाभाव सम्बन्ध निश्चित हो जाने पर ही धूम से अग्नि का अनुमान किया जा सकता है। अतएव अनुमान को प्रमाण मानने वालों को तर्क भी प्रमाण मानना चाहिए।

अनुमान

अनुमानं द्विप्रकारं—स्वार्थं परार्थश्च ॥९॥

अर्थ—अनुमान दो प्रकार का है— (१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान

स्वार्थानुमान का स्वरूप

तत्र हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणकारणकं साध्यविज्ञानं स्वार्थम् ॥१०॥

अर्थ—हेतु का प्रत्यक्ष होने पर तथा अविनाभाव सम्बन्ध का स्मरण होने पर साध्य का जो ज्ञान होता है वह स्वार्थानुमान कहलाता है।

विवेचन—जब हेतु (धूम) प्रत्यक्ष से दिखाई देता है और अविनाभाव सम्बन्ध का (जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है– इस प्रकार की व्याप्ति का) स्मरण होता है तब साध्य (अग्नि) का ज्ञान हो जाता है। इसी ज्ञान को अनुमान कहते हैं। यह अनुमान दूसरे के उपदेश के बिना—अपने आप ही होता है इस लिए इसे स्वार्थानुमान भी कहते हैं।

हेतु का स्वरूप

निश्चितान्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुः ॥११॥

अर्थ—साध्य के बिना निश्चित रूप से न होना, यह एक लक्षण जिसमें पाया जाय वह हेतु है।

विवेचन—साध्य के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित हो, अर्थात् जो साध्य के बिना कदापि सम्भव न हो वह हेतु कहलाता है। जैसे—अग्नि (साध्य) के बिना धूम कदापि संभव नहीं है अतएव धूम हेतु है।

मतान्तर का खण्डन

न तु त्रिलक्षणकादिः ॥१२॥

तस्य हेत्वाभासस्यापि सम्भवात् ॥१३॥

अर्थ—तीन लक्षण या पाँच लक्षण वाला हेतु नहीं है। क्योंकि वह हेत्वाभास भी हो सकता है।

विवेचन—बौद्ध लोग पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षासत्व यह तीन लक्षण जिसमें पाये जाएँ उसे हेतु मानते हैं। नैयायिक लोग इन तीन में असत्प्रतिपक्षता और अबाधितविषयता को सम्मिलित करके पाँच लक्षण वाला हेतु मानते हैं। इनका अर्थ इस प्रकार है:—

(१) पक्षधर्मत्व—हेतु पक्ष मे रहे
(२) सपक्षसत्व—हेतु सपक्ष (अन्वय दृष्टान्त) में रहे
(३) विपक्षासत्व—हेतु विपक्ष में न रहे

(४) असत्प्रतिपक्षता—हेतु का विरोधी समान बल वाला दूसरा हेतु न हो।

(५) अबाधितविषयता—हेतु का साध्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधित न हो।

वास्तव में बौद्धों और नैयायिकों का हेतु का यह लक्षण ठीक नहीं है। इसके दो कारण हैं—प्रथम, यह कि इन सब के मौजूद रहने पर भी कोई-कोई हेतु सही नहीं होता; दूसरे, कभी-कभी इनके न होने पर भी हेतु सही होता है। इस प्रकार हेतु के इन दोनों लक्षणों में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनों दोष विद्यमान हैं।

साध्य का स्वरूप

अप्रतीतमनिराकृतमभीप्सितं साध्यम् ॥१४॥

शंकितविपरीतानध्यवसितवस्तूनां साध्यताप्रतिपत्त्यर्थमप्रतीत-वचनम् ॥१५॥

प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य साध्यत्वं मा प्रसज्यतामित्यनिराकृत-ग्रहणम् ॥१६॥

अनभिमतस्यासाध्यत्वप्रतिपत्तयेऽभीप्सितपदोपादानम् ॥१७॥

अर्थ—जो प्रतिवादी को स्वीकृत न हो, जो प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण से बाधित न हो और जो वादी को मान्य हो, वह साध्य होता है।

जिसमें शंका हो, जिसे उलटा मान लिया हो अथवा जिसमें

अनध्यवसाय हो वही साध्य हो सकता है, यह बताने के लिए साध्य को 'अप्रतीत' कहा है।

जो प्रत्यक्ष आदि किसी प्रमाण से बाधित हो, वह साध्य न हो जाय, यह सूचित करने के लिए साध्य को 'अनिराकृत' कहा है।

जो वादी को सिद्ध नहीं है वह साध्य नहीं हो सकता, यह बताने के लिए साध्य को 'अभीप्सित' कहा है।

विवेचन—जिसे सिद्ध करना हो वह साध्य कहलाता है। निर्दोष साध्य में तीन बातें होनी आवश्यक हैं—(१) प्रथम यह कि प्रतिवादी को वह पहले से ही सिद्ध न हो; क्योंकि सिद्ध बात को सिद्ध करना वृथा है। (२) दूसरी यह कि साध्य में किसी प्रमाण से बाधा न हो; 'अग्नि ठण्डी है' यहाँ अग्नि का ठण्डापन प्रत्यक्ष से बाधित है अतः यह साध्य नहीं हो सकता। (३) तीसरी यह कि जिस बात को वादी सिद्ध करना चाहे वह उसे स्वयं मान्य हो; 'आत्मा नहीं है' यहाँ आत्मा का अभाव जिसे मान्य नहीं है वह आत्मा का अभाव सिद्ध करेगा तो साध्य दूषित कहलायेगा।

साध्य सम्बन्धी नियम

व्याप्तिग्रहणसमयापेक्षया साध्यं धर्म एव, अन्यथा तदनुपपत्तेः ॥१८॥

न हि यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र चित्रभानोरिव धरित्रीधरस्याप्यनुवृत्तिरस्ति ॥१९॥

आनुमानिकप्रतिपत्त्यवसरापेक्षया तु पक्षापरपर्यायस्तद्विशिष्टः प्रसिद्धो धर्मी ॥२०॥

अर्थ—व्याप्ति ग्रहण करते समय धर्म ही साध्य होता है—धर्मी नहीं; धर्मी को साध्य बनाया जाय तो व्याप्ति नहीं बन सकती।

जहाँ जहाँ धूम होता है वहाँ वहाँ अग्नि की भांति पर्वत (धर्मी) की व्याप्ति नहीं है।

अनुमान प्रयोग करते समय धर्म (अग्नि) से युक्त धर्मी (पर्वत) साध्य होता है। धर्मी का दूसरा नाम पक्ष है और वह प्रसिद्ध होता है।

विवेचन—यहाँ कब क्या साध्य होना चाहिए, यह बताया गया है। जब व्याप्ति का प्रयोग करना हो तो 'जहां जहां धूम होता है वहां-वहां अग्नि होती है' इस प्रकार अग्नि धर्म को ही साध्य बनाना चाहिए। यदि धर्म को ही साध्य न बनाकर धर्मी को साध्य बनाया जाय तो व्याप्ति यो बनेगी—जहां-जहां धूम है वहां-वहां पर्वत मे अग्नि है।' पर ऐसी व्याप्ति ठीक नहीं है। अतएव व्याप्ति के समय धर्मी (पक्ष) को छोड़ कर धर्म को ही साध्य बनाना चाहिए।

इससे विपरीत, अनुमान का प्रयोग करते समय अग्नि धर्म से युक्त धर्मी (पर्वत) को ही साध्य बनाना चाहिए। उस समय 'अग्नि है, क्योंकि धूम है' इतना कहना पर्याप्त नहीं है। क्योंकि अग्नि का अस्तित्व सिद्ध करना इस अनुमान का प्रयोजन नहीं है किन्तु पर्वत मे अग्नि सिद्ध करना इष्ट है। अतएव अनुमान-प्रयोग के समय धर्म से युक्त पक्ष साध्य बन जाता है। तात्पर्य यह है कि पर्वत प्रसिद्ध है, अग्नि भी सिद्ध है, किन्तु अग्निमान् पर्वत सिद्ध नहीं है, अतः वही साध्य होना चाहिए।

धर्मी की सिद्धि

धर्मिणः प्रसिद्धिः क्वचिद्विकल्पतः, कुत्रचित्प्रमाणतः क्वापि विकल्पप्रमाणाभ्याम् ॥२१॥

यथा समस्ति समस्तवस्तुवेदी, क्षितिधरकन्धरेयं धूमध्वजवती, ध्वनिः परिणतिमान् ॥२२॥

अर्थ—धर्मी की प्रसिद्धि कहीं विकल्प से होती है, कहीं प्रमाण से होती है और कहीं विकल्प तथा प्रमाण दोनो से होती है।

जैसे—सर्वज्ञ है, पर्वत की यह गुफा अग्निवाली है, शब्द अनित्य है।

विवेचन—प्रमाण से जिस पक्ष का न अस्तित्व सिद्ध हो और न नास्तित्व सिद्ध हो—किन्तु अस्तित्व या नास्तित्व सिद्ध करने के लिए जो शाब्दिक रूप में मान लिया गया हो वह विकल्पसिद्ध धर्मी कहलाता है। जैसे—सर्वज्ञ। सर्वज्ञ का अब तक न अस्तित्व सिद्ध है और न नास्तित्व ही। अतः वह विकल्पसिद्ध धर्मी है। प्रत्यक्ष या अन्य किसी प्रमाण से जिसका अस्तित्व निश्चित हो वह प्रमाणसिद्ध धर्मी कहलाता है। जैसे पर्वत की गुफा। पर्वत की गुफा प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। 'शब्द अनित्य है' यहाँ 'शब्द' पक्ष उभयसिद्ध है —वर्त्तमानकालीन शब्द प्रत्यक्ष से और भूत-भविष्यत् कालीन विकल्प से सिद्ध है।

परार्थानुमान का स्वरूप

पक्षहेतुवचनात्मकं परार्थमनुमानमुपचारात् ॥२३॥

अर्थ—पक्ष और हेतु का वचन परार्थानुमान है। उसे उपचार से अनुमान कहते हैं।

विवेचन—स्वार्थानुमान को शब्दों द्वारा कहना परार्थानुमान है। मान लीजिये देवदत्त को धूम देखने में अग्नि का अनुमान हुआ। वह अपने साथी जिनदत्त से कहता है—'देखो, पर्वत में अग्नि है, क्योंकि धूम है।' तो देवदत्त का यह शब्द-प्रयोग परार्थानुमान है, क्योंकि वह परार्थ है अर्थात् दूसरे को ज्ञान कराने के लिए बोला गया है।

प्रत्येक प्रमाण ज्ञान-स्वरूप होता है पर परार्थानुमान शब्द-स्वरूप है। शब्द जड़ हैं अतः परार्थानुमान भी जड़रूप होने से प्रमाण नहीं हो सकता। किन्तु इन शब्दों को सुनकर जिनदत्त को स्वार्थानुमान उत्पन्न होता है। अतएव परार्थानुमान स्वार्थानुमान का कारण है। कारण को उपचार से कार्य मान कर परार्थानुमान को भी अनुमान मान लिया है।

पक्ष-प्रयोग की आवश्यकता

साध्यस्य प्रतिनियतधर्मिसम्बन्धिताप्रसिद्धये हेतोरुपसंहारवचनवत् पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्रयितव्यः ॥२४॥

त्रिविधं साधनमभिधायैव तत्समर्थनं विदधानः कः खलु न पक्षप्रयोगमङ्गीकुरुते ? ॥२५॥

अर्थ—साध्य का नियत पक्ष के साथ सम्बन्ध सिद्ध करने के लिए, उपनय की भाँति पक्ष का प्रयोग भी अवश्य करना चाहिए।

तीन प्रकार के हेतु का प्रयोग करके ही उनका समर्थन करने वाला, ऐसा कौन होगा जो पक्ष का प्रयोग करना स्वीकार न करे ?

विवेचन—बौद्ध पक्ष का प्रयोग करना आवश्यक नहीं मानते। उनके मत का विरोध करने के लिए यहाँ यह कहा गया है कि अगर पक्ष का प्रयोग न किया जायगा तो साध्य कहाँ सिद्ध किया जा रहा है, यह मालूम नहीं पड़ेगा। साध्य का नियत पक्ष के साथ सम्बन्ध बताने के लिए पक्ष अवश्य बोलना चाहिए।

'पर्वत में अग्नि है, क्योंकि धूम है, जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है, जैसे पाकशाला, इस पर्वत में भी धूम है।' इस अनुमान में 'इस पर्वत में भी धूम है' यह उपनय है। यहाँ हेतु को दोहराया गया है। हेतु को दोहराने का प्रयोजन यह है कि साधन का नियत पक्ष के साथ सम्बन्ध बताया जाय। इसी प्रकार साध्य का नियत पक्ष के साथ सम्बन्ध बताने के लिए पक्ष भी बोलना चाहिए।

जैसे हेतु का कथन करने के बाद ही उसका समर्थन किया जा सकता है—हेतु का प्रयोग किये बिना समर्थन नहीं हो सकता, उसी प्रकार पक्ष का प्रयोग किये बिना साध्य के आधार का निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता। (बौद्धों ने स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि, यह तीन प्रकार के हेतु माने हैं)

परार्थ प्रत्यक्ष

प्रत्यक्षपरिच्छिन्नार्थाभिधायि वचनं परार्थं प्रत्यक्षं, परप्रत्यक्षहेतुत्वात् ॥२६॥

यथा-पश्य पुरः स्फुरत्किरणमणिखण्डमण्डिताभरण-भारिणीं जिनपतिप्रतिमामिति ॥२७॥

अर्थ—प्रत्यक्ष द्वारा जाने हुए पदार्थ का उल्लेख करने वाले वचन परार्थ प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि उन वचनों से दूसरे को प्रत्यक्ष होता है।

जैसे—देखो, सामने, चमकती हुई किरणों वाली मणियों के टुकड़ों से जड़े हुए आभूषणों को धारण करने वाली जिन भगवान की प्रतिमा है।

विवेचन—जैसे अनुमान द्वारा जानी हुई बात शब्दों द्वारा कहना परार्थानुमान है उसी प्रकार प्रत्यक्ष द्वारा जानी हुई बात को शब्दों से कहना परार्थ प्रत्यक्ष है। परार्थानुमान जैसे अनुमान का कारण है उसी प्रकार परार्थ प्रत्यक्ष, प्रत्यक्ष का कारण है। यह परार्थ प्रत्यक्ष भी शब्दात्मक होने के कारण उपचार से प्रमाण है।

अनुमान के अवयव

पक्षहेतुवचनमवयवद्वयमेव परप्रतिपत्तेरंगं, न दृष्टान्तादिवचनम् ॥२८॥

अर्थ—पक्ष का प्रयोग और हेतु का प्रयोग, यह दो अवयव ही दूसरों को समझाने के कारण हैं, दृष्टान्त आदि का प्रयोग नहीं।

विवेचन—परार्थानुमान के अवयवों के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। सांख्य लोग पक्ष, हेतु और दृष्टान्त यह तीन अवयव मानते हैं, मीमांसक उपनय के साथ चार अवयव मानते हैं, और यौग लोग निगमन को इनमें सम्मिलित करके पाँच अवयव मानते हैं।

इन सब मतों का निरसन करते हुए पक्ष और हेतु इन दो ही अवयवों का समर्थन किया गया है, क्योंकि दूसरे को समझाने के

लिए यही पर्याप्त है। इस सम्बन्ध का विशेष विचार आगे किया जायगा।

हेतु प्रयोग के भेद

हेतुप्रयोगस्तथोपपत्ति-अन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विप्रकारः ॥२९॥ सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिः, असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिः ॥३०॥

यथा—कृशानुमानयं पाकप्रदेशः, सत्येव कृशानुमत्त्वे धूमवत्त्वस्योपपत्तेः, असत्यनुपपत्तेर्वा ॥३१॥

अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयप्रयोगस्यैकत्रानुपयोगः ॥३२॥

अर्थ—तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति के भेद से हेतु दो प्रकार से बोला जाता है॥

साध्य के होने पर ही हेतु का होना (बताना) तथोपपत्ति है और साध्य के अभाव में हेतु का अभाव होना (बताना) अन्यथानुपपत्ति है॥

जैसे—यह पाकशाला अग्निवाली है, क्योंकि अग्नि के होने पर ही धूम हो सकता है, या क्योंकि अग्नि के बिना धूम नहीं हो सकता॥

तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति में से किसी एक का प्रयोग करने से ही साध्य का ज्ञान होजाता है अतः एक ही जगह दोनो का प्रयोग करना व्यर्थ है॥

विवेचन — यहाँ हेतु के प्रयोग की विविधता बताई गई है। तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति रूप हेतुओं में अर्थका भेद नहीं है; केवल एक में विधि रूप मे प्रयोग है और दूसरे में निषेध रूप से। दोनो का आशय एक है अतएव किसी भी एक का प्रयोग करना पर्याप्त है, दोनो को एक साथ बोलना अनुपयोगी है।

दृष्टान्त अनुमान का अवयव नहीं है

न दृष्टान्तवचनं परप्रतिपत्तये प्रभवति, तस्यां पक्षहेतु-वचनयोरेव व्यापारोपलब्धेः ॥ ३३ ॥

न च हेतोरन्यथानुपपत्तिनिर्णीतये, यथोक्ततर्कप्रमाणा-देव तदुपपत्तेः ॥ ३४ ॥

नियतैकविशेषस्वभावे च दृष्टान्ते साकल्येन व्या-प्तेरयोगतो विप्रतिपत्तौ तदन्तरापेक्षायामनवस्थितेर्दुर्निवारः समवतारः ॥ ३५ ॥

नाप्यविनाभावस्मृतये, प्रतिपन्नप्रतिबन्धस्य व्युत्पन्नमतेः पक्षहेतुप्रदर्शनेनैव तत्प्रसिद्धेः ॥ ३६ ॥

अर्थ-दृष्टान्त दूसरे को समझाने के लिए नहीं है, क्योकि दूसरे को समझाने मे पक्ष और हेतु के प्रयोग का ही व्यापार देखा जाता है॥

दृष्टान्त, हेतु के अविनाभाव का निर्णय करने के लिये भी नही, क्योकि पूर्वोक्त तर्क प्रमाण से अविनाभाव का निर्णय होता है॥

दृष्टान्त, निश्चित एक विशेष स्वभाव वाला होता है

(एक महानस तक ही सीमित रहता है) उसमें व्याप्ति पूर्ण रूप से नहीं घट सकती अतएव दृष्टान्त में व्याप्ति सम्बन्धी विवाद उपस्थित होने पर दूसरा दृष्टान्त ढूंढ़ना पड़ेगा, इस प्रकार अनवस्था दोष अनिवार्य होगा ॥

दृष्टान्त, अविनाभाव के स्मरण के लिए भी नहीं हो सकता, क्योंकि जिसने अविनाभाव सम्बन्ध जान लिया है और जो बुद्धिमान् है, उसके आगे पक्ष और हेतु का प्रयोग करने से ही उसे अविनाभाव का स्मरण हो जाता है ॥

विवेचन—दृष्टान्त को अनुमान का अवयव मानने के तीन प्रयोजन हो सकते हैं। (१) दूसरे को साध्य का ज्ञान कराना। (२) अविनाभाव का निर्णय कराना और (३) अविनाभाव का स्मरण कराना। किन्तु इनमें से किसी भी प्रयोजन के लिए दृष्टान्त की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि पक्ष और हेतु का कथन करने से साध्य का ज्ञान हो जाता है, तर्क प्रमाण से अविनाभाव का निर्णय होजाता है और पक्ष-हेतु के कथन में ही अविनाभाव का स्मरण होजाता है।

इसके अतिरिक्त जो दृष्टान्त में अविनाभाव का निर्णय होना मानते हैं, उन्हें अनवस्था दोष का सामना करना पड़ेगा। पक्ष में अविनाभाव का निर्णय करने के लिए दृष्टान्त चाहिए तो दृष्टान्त में अविनाभाव का निर्णय करने के लिए एक नया दृष्टान्त चाहिए, उसमें भी अविनाभाव का निर्णय किसी नये दृष्टान्त से होगा, इस प्रकार अनवस्था दोष आयगा। क्योंकि दृष्टान्त एक विशेष स्वभाव वाला होता है अर्थात् वह एक ही स्थान तक सीमित होता है जब कि व्याप्ति सामान्य रूप है अर्थात् त्रिकाल और त्रिलोक सम्बन्धी होती है। ऐसे दृष्टान्त में पूर्ण रूपेण व्याप्ति नहीं घट सकती।

प्रकारान्तर से समर्थन

अन्तर्व्याप्त्या हेतोः साध्यप्रत्यायने शक्तावशक्तौ च बहिर्व्याप्तेरुद्भावनं व्यर्थम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—अन्तर्व्याप्ति द्वारा हेतु से साध्य का ज्ञान हो जाने पर भी या न होने पर भी बहिर्व्याप्ति का कथन करना व्यर्थ है।

विवेचन—अन्तर्व्याप्ति का और बहिर्व्याप्ति का स्वरूप आगे बताया जायगा। इस सूत्र का आशय यह है कि अन्तर्व्याप्ति के द्वारा हेतु यदि साध्य का ज्ञान करा देता है तब बहिर्व्याप्ति का कथन व्यर्थ है। और अन्तर्व्याप्ति के द्वारा हेतु यदि साध्य का ज्ञान नहीं कराता तो भी बहिर्व्याप्ति का कथन व्यर्थ है। तात्पर्य यह है कि बहिर्व्याप्ति प्रत्येक दशा में व्यर्थ है।

अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति का स्वरूप

पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः; अन्यत्र तु बहिर्व्याप्तिः ॥ ३८ ॥

यथाऽनेकान्तात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेरिति; अग्निमानयं देशो धूमवत्त्वात्, य एवं स एवं, यथा पाकस्थान-मिति च ॥ ३९ ॥

अर्थ—पक्ष में ही साधन की साध्य के साथ व्याप्ति होना अन्तर्व्याप्ति है और पक्ष के बाहर व्याप्ति होना बहिर्व्याप्ति ॥

जैसे—वस्तु अनेकान्त रूप है, क्योंकि वह सत है, और, यह

स्थल अग्नि वाला है, क्योंकि धूमवान् है, जो धूमवान् होता है वह अग्निवाला होता है, जैसे पाकशाला।

विवेचन—वस्तु अनेकान्तरूप है, क्योंकि वह सत् है; यहाँ सत्त्व हेतु की 'अनेकान्त रूप' इस साध्य के साथ व्याप्ति अन्तर्व्याप्ति है, क्योंकि यह पक्ष मे ही हो सकती है—बाहर नहीं। 'वस्तु' यहाँ पक्ष है, उसमें संसार की सभी वस्तुएँ अन्तर्गत हैं, पक्ष के अतिरिक्त कुछ भी नही बचता जिसे सपक्ष बनाकर वहाँ व्याप्ति बताई जाय।

दूसरे उदाहरण मे 'यह स्थान' पक्ष है और धूम तथा अग्नि की व्याप्ति उस स्थान से बाहर सपक्ष (पाकशाला) में बताई गई है, अतएव यह बहिर्व्याप्ति है।

उपनय निगमन भी अनुमान के अग नही

नोपनयनिगमनयोरपि परप्रतिपत्तौ सामर्थ्यं, पक्षहेतु-प्रयोगादेव तस्याः सद्भावात् ॥ ४० ॥

अर्थ—उपनय और निगमन भी परप्रतिपत्ति मे कारण नही हैं, क्योंकि पक्ष और हेतु के प्रयोग से ही पर को प्रतिपत्ति (ज्ञान) होजाती है।

विवेचन—यौगमत का निरास करते हुए यहाँ उपनय और निगमन, अनुमान के अङ्ग नही हैं, यह बतलाया गया है। पक्ष और हेतु को बोलने मात्र से ही जब दूसरे को साध्य का ज्ञान हो जाता है तब उपनय और निगमन की क्या आवश्यकता है?

हेतु का समर्थन

समर्थनमेव परं परप्रतिपत्त्यङ्गमास्तां, तदन्तरेण दृष्टान्तादिप्रयोगेऽपि तदसम्भवात् ॥ ४१ ॥

अर्थ—समर्थन को ही परप्रतिपत्ति का अङ्ग मानना चाहिए, क्योंकि समर्थन किए बिना; दृष्टान्त आदि का प्रयोग करने पर भी साध्य का ज्ञान नहीं हो सकता।

विवेचन—हेतु के दोषों का अभाव दिखाकर उसे निर्दोष सिद्ध करना समर्थन है। समर्थन करने से ही हेतु समीचीन सिद्ध होता है। समर्थन को चाहे अनुमान का अलग अङ्ग माना जाय चाहे हेतु में ही उसे अन्तर्गत किया जाय, पर है वह आवश्यक। समर्थन के बिना दृष्टान्त का प्रयोग करना निरर्थक है।

शिष्यानुरोध से अनुमानके अवयव

मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तोपनयनिगमनान्यपि प्रयोज्यानि ॥ ४२ ॥

अर्थ—मन्दबुद्धि वाले शिष्यों को समझाने के लिए दृष्टान्त, उपनय और निगमन का भी प्रयोग करना चाहिए।

विवेचन—परार्थानुमान दूसरे को साध्य का ज्ञान कराने के लिए बोला जाता है। अतएव जितना बोलने से दूसरा समझ जाय, उतना बोलना ही उचित है; उसमें किसी अनिवार्य बन्धन की आवश्यकता नहीं है। हाँ, वाद-विवाद के समय वादी और प्रतिवादी दोनों विद्वान् होते हैं अतः उन्हें पक्ष और हेतु यह दो ही अवयव पर्याप्त हैं।

दृष्टान्त का निरूपण

प्रतिबन्धप्रतिपत्तेरास्पदं दृष्टान्तः ॥ ४३ ॥

स द्वेधा साधर्म्यतो वैधर्म्यतश्च ॥४४॥

यत्र साधनधर्मसत्तायाम् साध्यधर्मसत्ता प्रकाश्यते स साधर्म्यदृष्टान्तः ॥४५॥

यथा-यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निर्यथा महानसः ॥४६॥

यत्र तु साध्याभावे साधनस्यावश्यमभावः प्रदर्श्यते स वैधर्म्यदृष्टान्तः ॥४७॥

यथा-अग्न्यभावे न भवत्येव धूमो यथा जलाशये ॥४८॥

अर्थ—अविनाभाव बताने के स्थान को दृष्टान्त कहते हैं ॥

दृष्टान्त दो प्रकार का है—(१) साधर्म्य दृष्टान्त और (२) वैधर्म्य दृष्टान्त ॥

जहां साधन के होने पर साध्य का होना बताया जाय वह साधर्म्य दृष्टान्त कहलाता है।

जैसे—जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे रसोई घर।

जहाँ साध्य के अभाव में साधन का अवश्य अभाव दिखाया जाता है वह वैधर्म्य दृष्टान्त है।

जैसे—जहाँ अग्नि का अभाव होता है वहाँ धूम का अभाव होता है; जैसे तालाब ।

विवेचन—व्याप्ति को जिस स्थान पर दिखाया जाय वह स्थान दृष्टान्त है । अन्वयव्याप्ति को दिखाने का स्थल साधर्म्य दृष्टान्त या अन्वय दृष्टान्त कहलाता है, जैसे ऊपर के उदाहरण मे 'रसोईघर' । रसोईघर मे साधन (धूम) के होने पर साध्य (अग्नि) का सद्भाव दिखाया गया है । व्यतिरेक व्याप्ति को बताने का स्थान वैधर्म्य या व्यतिरेक दृष्टान्त कहलाता है, जैसे ऊपर के उदाहरण में 'तालाब' । तालाब में साध्य के अभाव मे साधन का अभाव दिखाया गया है ।

किसके सद्भाव में किसका सद्भाव होता है और किसके अभाव मे किसका अभाव होता है, यह ध्यान मे रखना चाहिये ।

उपनय

हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहरणमुपनयः ॥४६॥
यथा-धूमश्चात्र प्रदेशे ॥५०॥

अर्थ—पक्ष में हेतु का उपसंहार करना (दोहराना) उपनय है । जैसे—इस जगह भी धूम है ।

विवेचन—पहले हेतु का प्रयोग करके पक्ष में हेतु का सद्भाव दिखा दिया जाता है, फिर व्याप्ति और उदाहरण बोलने के पश्चात दूसरी बार कहा जाता है—'इस जगह भी धूम है ।' यही पक्ष में हेतु का दोहराना है और यही उपनय है ।

निगमन

साध्यधर्मस्य पुनर्निगमनम् ॥५१॥

यथा—तस्मादग्निरत्र   ॥५२॥

अर्थ—साध्य का पक्ष में दोहराना निगमन कहलाता है। जैसे—'इसलिए यहाँ अग्नि है।'

विवेचन—पक्ष मे साध्य का होना सर्वप्रथम बताया गया था, फिर व्याप्ति आदि बोलने के बाद अन्त मे दूसरी बार कहा जाना है–'इसलिये यहाँ अग्नि है' साध्य का यह दोहराना निगमन है।

पाँच अवयव वाला अनुमान इस प्रकार का है—

(१) पर्वत में अग्नि है (पक्ष)

(२) क्योंकि पर्वत मे धूम है (हेतु)

(३) जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है (व्याप्ति) जैसे—पाकशाला (दृष्टान्त)

(४) इस पर्वत मे भी धूम है (उपनय)

(५) इसलिए पर्वत में अग्नि है (निगमन)

अवयव संज्ञा

एते पक्षप्रयोगादयः पञ्चाप्यवयवसंज्ञया कीर्त्यन्ते॥५३॥

अर्थ—पक्ष, हेतु आदि पाँचों अनुमान के अंग 'अवयव' कहलाते हैं।

हेतु के भेद

उक्त लक्षणो हेतुर्द्विप्रकारः, उपलब्धि–अनुपलब्धिभ्यां भिद्यमानत्वात् ॥५४॥

उपलब्धिर्विधिनिषेधयोः सिद्धिनिबन्धनमनुपलब्धिश्च॥५५॥

अर्थ — अन्यथानुपपत्तिरूप पूर्वोक्त हेतु दो प्रकार का है— (१) उपलब्धिरूप और (२) अनुपलब्धिरूप ।

उपलब्धिरूप हेतु से विधि और निषेध दोनो सिद्ध होते हैं और अनुपलब्धिरूप हेतु से भी दोनो सिद्ध होते है ।

विवेचन — विधि–सद्भावरूप हेतु को उपलब्धि हेतु कहते है और निषेध अर्थात् असद्भावरूप हेतु अनुपलब्धि कहलाता है। कुछ लोगों की यह मान्यता है कि उपलब्धि हेतु विधिसाधक और अनुपलब्धिहेतु निषेधसाधक ही होता है। इस मान्यता का विरोध करते हुए यहाँ दोनों प्रकार के हेतुओ को दोनो का साधक बताया गया है। प्रत्येक हेतु जैसे अपने सम्बन्धी का सद्भाव सिद्ध करता है उसी प्रकार अपने विरोधी का अभाव भी सिद्ध कर सकता है।

विधि-निषेध की व्याख्या

विधिः सदंशः ॥५६॥

प्रतिषेधोऽसदंश ॥५७॥

अर्थ — सत् अंश को विधि कहते हैं।
असत् अंश को प्रतिषेध कहते हैं।

विवेचन—प्रत्येक वस्तु मे सत्त्व और असत्त्व दोनों धर्म पाये जाते हैं। अतएव सत्त्व वस्तु का एक अंश (धर्म) है और असत्त्व भी एक अंश है। सत्त्व और असत्त्व सर्वथा पृथक् पदार्थ नहीं है। इसीलिए सूत्रो में 'अंश' शब्द का प्रयोग किया गया है। वैशेषिक लोग सत्त्व (सामान्य) और अभाव को अलग पदार्थ मानते हैं, यहाँ उनकी इस मान्यता का परोक्षरूप में विरोध किया गया है।

प्रतिषेध के भेद

स चतुर्धा–प्रागभावः, प्रध्वंसाभावः, इतरेतराभावो-ऽत्यन्ताभावश्च ॥५८॥

अर्थ—प्रतिषेध (अभाव) चार प्रकार का है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव।

प्रागभाव का स्वरूप

यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्तिः सोऽस्य प्रागभावः ॥५९॥

यथा मृत्पिण्डनिवृत्तावेव समुत्पद्यमानस्य घटस्य मृत्पिण्डः ॥६०॥

अर्थ—जिस पदार्थ के नाश होने पर ही कार्य की उत्पत्ति हो वह पदार्थ उस कार्य का प्रागभाव है।

जैसे मिट्टी के पिण्ड का नाश होने पर ही उत्पन्न होने वाले घट का प्रागभाव मिट्टी का पिण्ड है।

विवेचन—किसी भी कार्य की उत्पत्ति होने से पहले उसका जो अभाव होता है वह प्रागभाव कहलाता है। यहाँ सद्रूप मिट्टी के पिण्ड को घट का प्रागभाव बतलाया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि, अभाव एकान्त असत्तारूप (तुच्छाभावरूप) नहीं है, किन्तु पदार्थान्तर रूप है। आगे भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

प्रध्वंसाभाव का स्वरूप

यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्यं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाभावः ॥६१॥

यथा कपालकदम्बकोत्पत्तौ नियमतो विपद्यमानस्य कलशस्य कपालकदम्बकम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—जिस पदार्थ के उत्पन्न होने पर कार्य का अवश्य विनाश हो जाता है वह पदार्थ उस कार्य का प्रध्वंसाभाव है ॥

जैसे—टुकड़ो का समूह उत्पन्न होने पर निश्चित रूप से नष्ट हो जाने वाले घट का प्रध्वंसाभाव टुकड़ो का समूह है ॥

इतरेतराभाव का स्वरूप

स्वरूपान्तरात् स्वरूपव्यावृत्तिरितरेतराभावः ॥ ६३ ॥
तथा स्तम्भस्वभावात् कुम्भस्वभावव्यावृत्तिः॥ ६४ ॥

अर्थ—एक पर्याय का दूसरी पर्याय में न पाया जाना इतरेतराभाव है । ॥

जैसे—स्तम्भ का कुम्भ में न पाया जाना ।

विवेचन—स्तम्भ और कुम्भ—दोनों पदार्थ एक साथ सद्भाव रूप है किन्तु स्तम्भ कुम्भ नहीं है और कुम्भ स्तम्भ ही है । इस प्रकार दोनों में परस्पर का अभाव है । यही अभाव इतरेतराभाव, अन्योन्याभाव या परस्पराभाव कहलाता है ।

अत्यन्ताभाव का स्वरूप

कालत्रयाऽपेक्षिणी तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ताभावः ॥ ६५ ॥
यथा चेतनाचेतनयोः ॥ ६६ ॥

अर्थ—त्रिकाल सम्बन्धी तादात्म्य के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं ।

विवेचन—एक द्रव्य त्रिकाल में भी दूसरा द्रव्य नहीं बन सकता। जैसे चेतन कभी अचेतन न हुआ, न है और न होगा। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में, दूसरे द्रव्य का त्रैकालिक अभाव पाया जाता है: वही अत्यन्ताभाव है। एक ही द्रव्य की अनेक पर्यायों का पारस्परिक अभाव इतरेतराभाव कहलाता है और अनेक द्रव्यों का पारस्परिक अभाव अत्यन्ताभाव कहलाता है। प्रागभाव अनादि सान्त है, प्रध्वंसाभाव सादि अनन्त है, इतरेतराभाव सादि सान्त है और अत्यन्ताभाव अनादि अनन्त है।

उपलब्धि हेतु के भेद

उपलब्धेरपि द्वैविध्यमविरुद्धोपलब्धिर्विरुद्धोपलब्धिश्च ॥६७॥

अर्थ—उपलब्धि हेतु के भी दो भेद हैं—(१) अविरुद्धोपलब्धि और (२) विरुद्धोपलब्धि।

विवेचन—साध्य से अविरुद्ध हेतु की उपलब्धि अविरुद्धोपलब्धि और साध्य से विरुद्ध हेतु की उपलब्धि विरुद्धोपलब्धि है।

विधिसाधक अविरुद्धोपलब्धि के भेद

तत्राविरुद्धोपलब्धिर्विधिसिद्धौ षोढा ॥६८॥

अर्थ—विधि रूप साध्य को सिद्ध करने वाली अविरुद्धोपलब्धि छह प्रकार की है।

भेदों का निर्देश

साध्येनाविरुद्धानां व्याप्यकार्यकारणपूर्वचरोत्तरचरसहचराणामुपलब्धिः ॥ ६९ ॥

अर्थ—(१) साध्याविरुद्ध व्याप्योपलब्धि, (२) साध्याविरुद्ध कार्योपलब्धि, (३) साध्याविरुद्ध कारणोपलब्धि (४) साध्याविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि (५) साध्याविरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि (६) साध्याविरुद्ध सहचरोपलब्धि; विधिसाधक साध्याविरुद्ध-उपलब्धि के यह छह भेद हैं।

कारण हेतु का समर्थन

तमस्विन्यामास्वाद्यमानादाम्रादिफलरसादेकसामग्र्यनुमित्या रूपाद्यनुमितिमभिमन्यमानैरभिमतमेव किमपि कारणं हेतुतया; यत्र शक्तेरप्रतिस्खलनमपरकारणसाकल्यञ्च ॥७०॥

अर्थ—रात्रि में चूसे जाने वाले आम आदि फल के रस से, उसकी उत्पादक सामग्री का अनुमान करके, फिर उससे रूप आदि का अनुमान मानने वालों ने (बौद्धों ने) कोई कारण हेतु रूप में स्वीकार किया ही है; जहां हेतु की शक्ति का प्रतिघात न होगया हो और दूसरे सहकारी कारणों की पूर्णता हो।

विवेचन—बौद्ध, उपलब्धि के स्वभाव और कार्य—यह दो ही भेद मानते है, कारण आदि को उन्होंने हेतु नहीं माना। वे कहते हैं—कार्य का कारण के साथ अविनाभाव है, कारण का कार्य के साथ नहीं; क्योंकि कार्य बिना कारण के नहीं हो सकता, पर कारण तो कार्य के बिना भी होता है। अतएव कारण को हेतु नहीं मानना चाहिए।' बौद्धों के मत का यहाँ खण्डन करने के लिए दो बातें कही गई हैं:—

(१) प्रत्येक कारण हेतु नहीं होता किन्तु जिस कारण का कार्योत्पादक सामर्थ्य मणि-मन्त्र आदि प्रतिबन्धकों द्वारा रुका हुआ

न हो और जिसके सहकारी अन्यान्य सब कारण विद्यमान हों, ऐसे विशिष्ट कारण को ही हेतु माना गया है, क्योंकि ऐसे कारण के होने पर कार्य की उत्पत्ति अवश्य होती है।

(२) बौद्ध स्वयं भी कारण को हेतु मानते हैं। अंधेरी रात्रि में (जब रूप दिखाई न पड़ता हो) कोई आम का रस चूसता है। उस रस से वह रस को उत्पन्न करने वाली सामग्री (पूर्व क्षण-वर्ती रस और रूप आदि) का अनुमान करता है। यहाँ चूसा जाने वाला रस कार्य है और पूर्वक्षणवर्ती रस रूप आदि कारण है। यह कार्य से कारण का अनुमान हुआ। इसके पश्चात् आम चूसने वाला उस कारणभूत रूप से वर्त्तमान कालीन रूप का अनुमान करता है। यह कारण से कार्य का अनुमान कहलाया। इस प्रकार बौद्ध कारण से कार्य का अनुमान स्वयं करते हैं, फिर कारण को हेतु क्यों न माने ?

शंका—वर्त्तमान रस से पूर्व क्षणवर्ती रस का ही अनुमान होगा, रस के साथ रूप आदि का क्यों आप कहते हैं ?

समाधान—बौद्धों की मान्यता के अनुसार पूर्वकालीन रस और रूप आदि मिलकर ही उत्तरकालीन रस उत्पन्न करते है। अतएव वर्त्तमानकालीन रस से पूर्वकालीन रस के साथ रूप आदि का भी अनुमान होता है। अलबत्ता पूर्वकालीन रस उत्तरकालीन रस में उपादान कारण होता है और रूप सहकारी कारण होता है। यही नियम स्पर्श आदि के लिए समझना चाहिए। प्रत्येक कारण सजातीय के प्रति उपादान कारण और विजातीय के प्रति सहकारी कारण होता है।

शंका—अच्छा, वर्त्तमान कालीन रूप तो प्रत्यक्ष देखा जा

सकता है; पूर्व रूप से उसका अनुमान करने की आवश्यकता क्यों बताई ?

समाधान—सूत्र में 'तमस्विन्याम्' पद है। उसका अर्थ है अंधेरी रात। अन्धेरी रात कहने का प्रयोजन यह है कि रस का तो जिह्वा-इन्द्रिय से प्रत्यक्ष हो रहा हो पर रूप का प्रत्यक्ष न होता हो—तब रूप अनुमान से ही जाना जा सकेगा।

पूर्वचर-उत्तरचर का समर्थन

पूर्वचरोत्तरचरयोर्न स्वभावकार्यकारणभावौ, तयोः कालव्यवहितावनुपलम्भात् ॥ ७१ ॥

विवेचन—पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओं का स्वभाव और कार्य हेतु मे समावेश नहीं हो सकता, क्योंकि स्वभाव और कार्य हेतु काल का व्यवधान होने पर नहीं होते।

विवेचन—जहाँ तादात्म्य सम्बन्ध हो वहाँ स्वभाव हेतु होता है और जहाँ तदुत्पत्ति सम्बन्ध हो वहाँ कार्य हेतु होता है। तादात्म्य सम्बन्ध समकालीन वस्तुओ मे होता है और कार्य-कारण सम्बन्ध अव्यवहित पूर्वोत्तर क्षणवर्ती धूम अग्नि आदि मे होता है। इस प्रकार समय का व्यवधान दोनों मे नही पाया जाता। किन्तु पूर्वचर और उत्तरचर में समय का व्यवधान होता है अतः इन दोनो का स्वभाव अथवा कार्य हेतु मे समावेश नहीं हो सकता।

व्यवधान में कार्यकारणभाव का अभाव

न चातिक्रान्तानागतयोर्जाग्रद्दशासंवेदनमरणयोः प्रबोधोत्पातौ प्रति कारणत्वं, व्यवहितत्वेन निर्व्यापारत्वादिति ॥७२॥

स्वव्यापारापेक्षिणी हि कार्यं प्रति पदार्थस्य कारणत्वव्यवस्था, कुलालस्येव कलशं प्रति ॥ ७३ ॥

न च व्यवहितयोस्तयोर्व्यापारपरिकल्पनं न्याय्यमतिप्रसक्तेरिति ॥ ७४ ॥

परम्पराव्यवहितानां परेषामपि तत्कल्पनस्य निवारयितुमशक्यत्वात् ॥ ७५ ॥

अर्थ—अतीत जाग्रत-अवस्था का ज्ञान, प्रबोध (सोकर जागने के पश्चात् होने वाले ज्ञान) का कारण नहीं है और भावी मरण अरिष्ट (अरुन्धती तारा न दीखना आदि) का कारण नहीं है, क्योंकि वे समय से व्यवहित हैं इसलिए प्रबोध और अरिष्ट उत्पन्न करने में व्यापार नहीं करते ॥

जो कार्य की उत्पत्ति में स्वयं व्यापार करता है वही कारण कहलाता है, जैसे कुम्भार घट में कारण है।

समय का व्यवधान होने पर भी अतीत जाग्रत अवस्था का ज्ञान और मरण, प्रबोध और अरिष्ट की उत्पत्ति में व्यापार करते हैं, ऐसी कल्पना न्यायसंगत नहीं है; अन्यथा सब घोटाला हो जायगा ॥

(फिर तो) परम्परा से व्यवहित अन्यान्य पदार्थों के व्यापार की कल्पना करना भी अनिवार्य हो जायगा ॥

विवेचन—पहले बताया जा चुका है कि जहाँ समय का व्यवधान होता है, वहाँ कार्य-कारण का भाव नहीं होता। इसी सिद्धान्त का यहाँ समर्थन किया गया है।

शंका—जागते समय हमें देवदत्त का ज्ञान हुआ। रात में हम सो गये। दूसरे दिन हमें देवदत्त का ज्ञान रहता है। ऐसी अवस्था में सोने से पहले का ज्ञान सोने के बाद के ज्ञान का कारण है। इसके अतिरिक्त छह महीने पश्चात् होने वाला मरण अरुन्धती का न दीखना आदि अरिष्टों का कारण होता है। यहाँ दोनों जगह समय का व्यवधान होने पर भी कार्य कारण भाव है।

समाधान—कारण वही कहलाता है जो कार्य की उत्पत्ति में व्यापार करता है। जैसे कुम्भार घट की उत्पत्ति में व्यापार करता है इसीलिए उसे घट का कारण माना जाता है। भूतकालीन जाग्रत अवस्था का ज्ञान और भविष्यकालीन मरण, प्रबोध और अरिष्ट की उत्पत्ति में व्यापार नहीं करते, अतः उन्हें कारण नहीं माना जा सकता।

शंका—भूतकालीन जाग्रत-अवस्था के ज्ञान का और भविष्यकालीन मरण का प्रबोध और अरिष्ट की उत्पत्ति में व्यापार होता है, यह मान लेने में क्या हानि है ?

समाधान—व्यापार वही करेगा जो विद्यमान होगा। जो नष्ट हो चुका है अथवा जो अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ, वह अविद्यमान या असत् है। असत् किसी कार्य की उत्पत्ति में व्यापार नहीं कर सकता। और व्यापार किए बिना ही कारण मान लेने पर चाहे जिसे कारण मान लेना पड़ेगा।

सहचर हेतु का समर्थन

सहचारिणोः परस्परस्वरूपपरित्यागेन तादात्म्यानुपपत्तेः सहोत्पादेन तदुत्पत्तिविपत्तेश्च सहचरहेतोरपि प्रोक्तेषु नानुप्रवेशः ॥ ७६ ॥

अर्थ—सहचर रूप-रस आदि का स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है अतः उनमें तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता; इस कारण सहचर हेतु का पूर्वोक्त हेतुओं मे समावेश होना सम्भव नही है।

विवेचन—रूप और रस सहचर हैं और दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है। रूप चक्षु-ग्राह्य होता है, रस जिह्वा-ग्राह्य है। जहाँ स्वरूप भेद होता है वहाँ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं हो सकता और तादात्म्य सम्बन्ध के बिना स्वभाव हेतु में समावेश नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त रूप रस आदि सहचर साथ-साथ उत्पन्न होते हैं और साथ-साथ उत्पन्न होने वालों में कार्य कारणभाव सम्बन्ध नहीं होता। इस कारण सहचर हेतु किसी भी अन्य हेतु मे अन्तर्गत नहीं किया जा सकता। उसे अलग हेतु स्वीकार करना चाहिए।

हेतुओं के उदाहरण

ध्वनिः परिणतिमान्, प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्, यः प्रयत्नानन्तरीयकः स परिणतिमान् यथा स्तम्भः। यो वा न परिणतिमान् स न प्रयत्नानन्तरीयको यथा वान्ध्येयः। प्रयत्नानन्तरीयकश्च ध्वनिस्तस्मात् परिणतिमानिति व्याप्यस्य साध्येनाविरुद्धस्योपलब्धिः साधर्म्येण वैधर्म्येण च ॥ ७७ ॥

अर्थ—शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रयत्न से उत्पन्न होता है, जो प्रयत्न से उत्पन्न होता है वह अनित्य होता है, जैसे स्तम्भ। अथवा जो अनित्य नहीं होता वह प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होता है, जैसे वन्ध्यापुत्र। शब्द प्रयत्न से उत्पन्न होता है, अतः वह अनित्य है। यह (विधिसाधक) साध्य से अविरुद्ध व्याप्य की उपलब्धि अन्वय-व्यतिरेक द्वारा बताई गई है।

विवेचन—यहाँ अनुमान के पाँच अवयव बताये गये हैं— 'परिणतिमान्' साध्य है, 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' हेतु है, 'स्तम्भ' साधर्म्य दृष्टान्त और 'वान्ध्येय' वैधर्म्य दृष्टान्त है, 'शब्द प्रयत्नानन्तरीयक होता है' उपनय है, 'अतः वह परिणतिमान् है' निगमन है।

जो अल्प देश में रहे वह व्याप्य कहलाता है और जो अधिक देश में रहे वह व्यापक कहलाता है। जैसे परिणतिमत्व मेघ, इन्द्र-धनुष और घट-पट आदि में रहता है पर 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' सिर्फ घट-पट आदि में रहता है, मेघ आदि प्राकृतिक पदार्थों में नहीं रहता। इस कारण प्रयत्नानन्तरीयकत्व और परिणतिमत्व व्यापक है। यहाँ परिणतिमत्व साध्य से अविरुद्ध प्रयत्नानन्तरीयकत्व रूप व्याप्य हेतु की उपलब्धि है।

अविरुद्ध कार्योपलब्धि

अस्त्यत्र गिरिनिकुञ्जे धनञ्जयो, धूमसमुपलम्भात्, इति कार्यस्य ॥ ७८ ॥

अर्थ—इस गिरिनिकुञ्ज में अग्नि है, क्योंकि धूम है यह अविरुद्ध कार्योपलब्धि का उदाहरण।

विवेचन—यहाँ अग्नि साध्य से अविरुद्ध धूम-कार्य-की उपलब्धि है।

अविरुद्ध कारणोपलब्धि

भविष्यति वर्षं, तथाविधवारिवाहविलोकनात्, इति कारणस्य ॥ ७९ ॥

अर्थ—वर्षा होगी, क्योंकि विशिष्ट (वर्षा के अनुकूल) मेघ दिखाई देते हैं; यह अविरोध कारणोपलब्धि का उदाहरण। (यहाँ वर्षा साध्य से अविरुद्ध कारण विशिष्ट मेघ-की उपलब्धि है।)

अविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि

उदेष्यति मुहूर्त्तान्ते तिष्यतारकाः पुनर्वसूदयात्, इति पूर्वचरस्य ॥ ८० ॥

अर्थ—एक मुहूर्त्त के पश्चात् पुष्य नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि इस समय पुनर्वसु नक्षत्र का उदय है, यह अविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि है। (यहाँ पुष्य नक्षत्र से अविरुद्ध पूर्वचर पुनर्वसु की उपलब्धि है)

अविरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि

उदगुर्मुहूर्त्तात्पूर्वं पूर्वफल्गुन्यः, उत्तरफल्गुनीनामुद्गमोपलब्धेः, इति उत्तरचरस्य ॥ ८१ ॥

अर्थ—एक मुहूर्त्त पहले पूर्वफल्गुनी का उदय हो चुका है, क्योंकि अब उत्तरफल्गुनी का उदय है, यह अविरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि है। (यहाँ पूर्वफल्गुनी से अविरुद्ध उत्तरचर उत्तर फल्गुनी की उपलब्धि है)

अविरुद्ध सहचरोपलब्धि

अस्तीह सहकारफले रूपविशेषः, समास्वाद्यमानरसविशेषात्, इति सहचरस्य ॥ ८२ ॥

अर्थ—इस आम में रूप विशेष है, क्योंकि आस्वाद्यमान रस विशेष है; यह अविरुद्ध सहचरोपलब्धि का उदाहरण है। (यहाँ साध्य-रूप-से अविरुद्ध सहचर-रस की उपलब्धि है)

विरुद्धोपलब्धि के भेद

विरुद्धोपलब्धिस्तु प्रतिषेधप्रतिपत्तौ सप्तधा ॥ ८३ ॥

अर्थ—निषेध सिद्ध करनेवाली विरुद्धोपलब्धि सात प्रकार की है।

स्वभाव विरुद्धोपलब्धि

तत्राद्या स्वभावविरुद्धोपलब्धिः ॥ ८४ ॥

यथा नास्त्येव सर्वथैकान्तोऽनेकान्तस्योपलम्भात् ॥८५॥

अर्थ—विरुद्धोपलब्धि का पहला भेद स्वभावविरुद्धोपलब्धि है ॥

जैसे—सर्वथा एकान्त नहीं है, क्योंकि अनेकान्त की उपलब्धि होती है ॥

विवेचन—यहाँ प्रतिषेध्य है—सर्वथा एकान्त। उससे विरुद्ध अनेकान्तरूप स्वभाव की उपलब्धि है। अतएव यह निषेधसाधक साध्यविरुद्ध स्वभावोपलब्धि हेतु है।

विरुद्धोपलब्धि के भेद

प्रतिषेध्यविरुद्धव्याप्तादीनामुपलब्धयः षट् ॥ ८६ ॥

अर्थ—प्रतिषेध्य पदार्थ से विरुद्ध व्याप्त आदि की उपलब्धि छह प्रकार की है।

विवेचन—विरुद्धोपलब्धि के सात भेद बताये थे। उनमें से पहले भेद का–स्वभावविरुद्धोपलब्धि का, उदाहरण बताया जा चुका है। शेष छह भेद यह हैं—(१) विरुद्धव्याप्तोपलब्धि (२) विरुद्ध-कार्योपलब्धि (३) विरुद्ध कारणोपलब्धि (४) विरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि (५) विरुद्धउत्तरचरोपलब्धि और (६) विरुद्ध सहचरोपलब्धि।

विरुद्ध व्याप्तोपलब्धि

विरुद्धव्याप्तोपलब्धिर्यथा—नास्त्यस्य पुंसस्तत्त्वेषु निश्चयस्तत्र सन्देहात् ॥ ८७ ॥

अर्थ—इस पुरुष को तत्त्वों में निश्चय नहीं है, क्योंकि उसे तत्त्वों में सन्देह है। यह विरुद्ध व्याप्तोपलब्धि का उदाहरण है।

विवेचन—यहाँ तत्त्वों का निश्चय प्रतिषेध्य है, उससे विरुद्ध अनिश्चय है और उससे व्याप्त सन्देह की उपलब्धि है।

विरुद्धकार्योपलब्धि

विरुद्धकार्योपलब्धिर्यथा–न विद्यतेऽस्यक्रोधाद्युपशांति-र्वदनविकारादेः ॥ ८८ ॥

अर्थ—इस पुरुष के क्रोध आदि शान्त नहीं हैं, क्योंकि चेहरे पर विकार आदि पाये जाते हैं।

विवेचन—यहाँ प्रतिषेध्य क्रोधादिक की शान्ति है, उससे

विरुद्ध क्रोध आदि का अनुपशम है और अनुपशम का कार्य वदन-विकार आदि पाया जाता है, अतः यह विरुद्धकार्योपलब्धि का उदाहरण हुआ।

विरुद्ध कारणोपलब्धि

विरुद्ध कारणोलपब्धिर्यथा—नास्य महर्षेरसत्यं समस्ति, रागद्वेषकालुष्याऽकलङ्कितज्ञानसम्पन्नत्वात् ॥ ८९ ॥

अर्थ—इस महर्षि में असत्य नहीं है, क्योंकि वह राग-द्वेष रूपी कलंक से रहित ज्ञान वाले हैं।

विवेचन—यहाँ प्रतिषेध्य असत्य है, उससे विरुद्ध सत्य है और सत्य के कारण राग-द्वेष रहित ज्ञान की उपलब्धि है; अतः यह विरुद्ध कारणोपलब्धि का उदाहरण है।

विरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि

विरुद्धपूर्वचरोपलब्धिर्यथा नोद्गमिष्यति मुहूर्त्तान्ते पुष्यतारा, रोहिण्युद्गमात् ॥ ९० ॥

अर्थ—एक मुहूर्त्त पश्चात् पुष्य नक्षत्र का उदय नहीं होगा, क्योंकि रोहिणी नक्षत्र का उदय है।

विवेचन—यहाँ पुष्यतारा का उदय प्रतिषेध्य है, उससे विरुद्ध मृगशीर्ष नक्षत्र का उदय है और उसके पूर्वचर रोहिणी नक्षत्र के उदय की उपलब्धि है। अतः यह विरुद्ध पूर्वचरोलब्धि का उदाहरण है।

विरुद्ध उत्तरचरोपलब्धि

विरुद्धोत्तरचरोपलब्धिर्यथा-नोद्गान्मुहूर्त्तात्पूर्वं मृगशिरः, पूर्वफल्गुन्युदयात् ॥ ६१ ॥

अर्थ—एक मुहूर्त्त पहले मृगशिर नक्षत्र का उदय नहीं हुआ, क्योंकि अभी पूर्वफल्गुनी का उदय है।

विवेचन—यहाँ प्रतिषेध्य मृगशिर का उदय है; उससे विरुद्ध मघा नक्षत्र का उदय है और मघा के उत्तरचर पूर्वफल्गुनी के उदय की उपलब्धि है। अतः यह विरुद्धउत्तरचरोपलब्धि का उदाहरण हुआ।

विरुद्ध सहचरोपलब्धि

विरुद्धसहचरोपलब्धिर्यथा—नास्त्यस्य मिथ्याज्ञानं सम्यग्दर्शनात् ॥ ६२ ॥

अर्थ—इस पुरुष का ज्ञान मिथ्या नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन है।

विवेचन—यहाँ प्रतिषेध्य मिथ्याज्ञान है, उससे विरुद्ध सम्यग्ज्ञान है और सम्यग्ज्ञान के सहचर सम्यग्दर्शन की उपलब्धि है। अतः यह विरुद्धसहचरोपलब्धि का उदाहरण है।

विरुद्धोपलब्धि के इन सब उदाहरणों में हेतु से पहले 'निषेध-साधक' इतना पद और जोड़ देना चाहिए। जैसे—निषेधसाधक विरुद्धस्वभावोपलब्धि, निषेधसाधक विरुद्ध कार्योपलब्धि, आदि।

अनुपलब्धि के भेद

अनुपलब्धेरपि द्वैरूप्यं—अविरुद्धानुपलब्धिः विरुद्धानुपलब्धिश्च ॥ ६३ ॥

अर्थ—उपलब्धि की तरह अनुपलब्धि भी दो प्रकार की है—(१) अविरुद्धानुपलब्धि और (२) विरुद्धानुपलब्धि ।

निषेधसाधक अविरुद्धानुपलब्धि

तत्राविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधावबोधे सप्तप्रकारा ॥६४॥

प्रतिषेध्येनाविरुद्धानां स्वभाव-व्यापक-कार्य-कारण-पूर्वचरोत्तरचरसहचराणामनुपलब्धिः ॥६५ ॥

अर्थ—निषेध सिद्ध करने वाली अविरुद्धानुपलब्धि सात प्रकार की है ॥

प्रतिषेध्य से (१) अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि (२) अविरुद्ध व्यापकानुपलब्धि (३) अविरुद्ध कार्यानुपलब्धि (४) अविरुद्ध कारणानुपलब्धि (५) अविरुद्ध पूर्वचरानुपलब्धि (६) अविरुद्ध उत्तरचरानुपलब्धि (७) अविरुद्ध सहचरानुपलब्धि ॥

अविरुद्ध स्वभावानुपलब्धि

स्वभावानुपलब्धिर्यथा—नास्त्यत्र भूतले कुम्भः, उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तत्स्वभावस्यानुपलम्भात् ॥ ६६ ॥

अर्थ—इस भूतल पर कुम्भ नहीं है, क्योंकि वह उपलब्ध होने योग्य होने पर भी उपलब्ध नहीं हो रहा है।

विवेचन—यहाँ प्रतिषेध्य कुम्भ है, उससे अविरुद्ध स्वभाव है। उपलब्ध होने की योग्यता और उस स्वभाव की अनुपलब्धि है। अतः यह अविरुद्ध स्वभावानुपलब्धि का उदाहरण है।

अविरुद्ध व्यापकानुपलब्धि

विरुद्धव्यापकानुपलब्धिर्यथा–नास्त्यत्र प्रदेशे पनसः पादपानुपलब्धेः ॥ ९७ ॥

अर्थ—इस जगह पनस नहीं है, क्योंकि वृक्ष नहीं है।

विवेचन—यहाँ प्रतिषेध्य पनस से अविरुद्ध व्यापक पादप की अनुपलब्धि होने से यह अविरुद्ध व्यापकानुपलब्धि है।

अविरुद्ध कार्यानुपलब्धि

कार्यानुपलब्धिर्यथा–नास्त्यत्राप्रतिहतशक्तिकं बीज-मंकुरानवलोकनात् ॥ ९८ ॥

अर्थ—अप्रतिहत शक्तिवाला बीज नहीं है, क्योंकि अंकुर नहीं दिखाई देता।

विवेचन—जिसकी शक्ति मंत्र आदि से रोक न दी गई हो या पुराना होने से स्वभावतः नष्ट न हो गई हो वह अप्रतिहत शक्ति वाला कहलाता है। यहाँ प्रतिषेध्य अप्रतिहत शक्ति वाला बीज है, उससे अविरुद्ध कार्य अंकुर की अनुपलब्धि होने से यह अविरुद्ध कार्यानुपलब्धि है।

अविरुद्ध कारणानुपलब्धि

कारणानुपलब्धिर्यथा न सन्त्यस्य प्रशमप्रभृतयो भावास्तत्त्वार्थश्रद्धानाभावात् ॥ ६६ ॥

अर्थ—इस पुरुष मे प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और अस्तिक्य रूप भाव नही हैं, क्योकि तत्त्वार्थश्रद्धान का अभाव है।

विवेचन—यहाँ प्रतिषेध्य प्रशम आदि भाव हैं, उनमें अविरुद्ध कारण सम्यग्दर्शन की अनुपलब्धि है, अतः यह अविरुद्ध कारणानुपलब्धि है।

५ विरुद्ध पूर्वचरानुपलब्धि

पूर्वचरानुपलब्धिर्यथा—नोद्गमिष्यति मुहूर्त्तान्ते स्वाति-नक्षत्रं, चित्रोदयादर्शनात् ॥ १०० ॥

अर्थ—एक मुहूर्त्त के पश्चात् स्वाति नक्षत्र का उदय नहीं होगा, क्योकि अभी चित्रा नक्षत्र का उदय नहीं है।

विवेचन—हस्त नक्षत्र के बाद चित्रा और चित्रा के बाद स्वाति का उदय होता है। यहाँ स्वाति का उदय प्रतिषेध्य है, उससे अविरुद्ध पूर्वचर चित्रा के उदय की अनुपलब्धि होने से यह अविरुद्ध पूर्वचरानुपलब्धि है।

अविरुद्ध उत्तरचरानुपलब्धि

उत्तराचरानुपलब्धिर्यथा नोद्गमत् पूर्वभद्रपदा मुहूर्त्तात्पूर्वं, उत्तरभद्रपदोद्गमानवलोकनात् ॥ १०१ ॥

अर्थ—एक मुहूर्त्त पहले पूर्वभद्रपदा का उदय नहीं हुआ, क्योंकि अभी उत्तरभद्रपदा का उदय नहीं है।

विवेचन—यहाँ प्रतिषेध्य पूर्वभद्रपदा का उदय है, उससे अविरुद्ध उत्तरचर उत्तरभद्रपदा के उदय की अनुपलब्धि होने से यह अविरुद्ध उत्तरचरानुपलब्धि है।

अविरुद्ध सहचरानुपलब्धि

सहचरानुपलब्धिर्यथा, नास्त्यस्य सम्यग्ज्ञानं, सम्यग्दर्शनानुपलब्धेः ॥ १०२ ॥

अर्थ—इस पुरुष में सम्यग्ज्ञान नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन की अनुपलब्धि है।

विवेचन—यहाँ प्रतिषेध्य सम्यग्ज्ञान है, उससे अविरुद्ध सहचर सम्यग्दर्शन की अनुपलब्धि होने से यह अविरुद्ध सहचरानुपलब्धि का उदाहरण है।

विधिसाधक विरुद्धानुपलब्धि

विरुद्धानुपलब्धिस्तु विधिप्रतीतौ पञ्चधा ॥ १०३ ॥

विरुद्ध कार्यकारणस्वभाव-व्यापकसहचरानुपलम्भभेदात् ॥ १०४ ॥

अर्थ—विधि को सिद्ध करने वाली विरुद्धानुपलब्धि के पांच भेद हैं ॥

(१) विरुद्ध कार्यानुपलब्धि (२) विरुद्ध कारणानुपलब्धि

(३) विरुद्धस्वभावानुपलब्धि (४) विरुद्ध व्यापकानुपलब्धि (५) विरुद्ध सहचरानुपलब्धि ॥

विरुद्ध कार्यानुपलब्धि

विरुद्ध कार्यानुपलब्धिर्यथा—अत्र प्राणिनि रोगातिशयः समस्ति, नीरोगव्यापारानुपलब्धेः ॥ १०५ ॥

अर्थ—इस प्राणी में रोग का अतिशय है, क्योंकि नीरोग चेष्टा नही देखी जाती।

विवेचन—यहाँ रोग का अतिशय साध्य है, उससे विरुद्ध नीरोगता है और नीरोगता के कार्य को-चेष्टा की-यहाँ अनुपलब्धि है। अतः यह विरुद्ध कार्यानुपलब्धि है।

विरुद्ध कारणानुपलब्धि

विरुद्ध कारणानुपलब्धिर्यथा, विद्यतेऽत्र प्राणिनि कष्ट-मिष्टसंयोगाभावात् ॥ १०६ ॥

अर्थ—इस प्राणी को कष्ट है, क्योकि इष्ट-संयोग का अभाव है।

विवेचन—यहाँ साध्य कष्ट है। इससे विरुद्ध सुखहै। उसका कारण इष्टमित्रों का संयोग है और उसका अभाव है। अतः यह विरुद्ध कारणोपलब्धि है।

विरुद्ध स्वभावानुपलब्धि

विरुद्ध स्वभावानुपलब्धिर्यथा वस्तुजातमनेकान्तात्मकं, एकान्तस्वभावानुपलम्भात् ॥ १०७ ॥

अर्थ—वस्तु-समूह अनेकान्तरूप है क्योंकि एकान्त स्वभाव की अनुपलब्धि है।

विवेचन—यहाँ अनेकान्तरूपता साध्य से विरुद्ध एकान्त स्वभाव की अनुपलब्धि है। अतः यह विरुद्धस्वभावानुपलब्धि है।

विरुद्ध व्यापकानुपलब्धि

विरुद्ध व्यापकानुपलब्धिर्यथा अस्त्यत्र छाया, औष्ण्यानुपलब्धेः ॥ १०८ ॥

अर्थ—यहाँ छाया है, क्योंकि उष्णता की अनुपलब्धि है।

विवेचन—यहाँ छाया-साध्य से विरुद्ध व्यापक उष्णता की अनुपलब्धि होने से यह विरुद्ध व्यापकानुपलब्धि है।

विरुद्ध सहचरानुपलब्धि

विरुद्ध सहचरानुपलब्धिर्यथा—अस्त्यस्य मिथ्याज्ञानं सम्यग्दर्शनानुपलब्धेः ॥ १०९ ॥

अर्थ—इस पुरुष में मिथ्याज्ञान है, क्योंकि सम्यग्दर्शन की अनुपलब्धि है।

विवेचन—यहाँ मिथ्याज्ञान-साध्य से विरुद्ध सहचर सम्यग्ज्ञान की अनुपलब्धि होने से यह विरुद्ध सहचरोपलब्धि है।

ऊपर बताये हुए तथा इसी प्रकार के अन्य हेतुओं को पहचानने का एक सुगम उपाय यह है—

(१) सबसे पहले साध्य को देखो। साध्य यदि सद्भाव रूप हो तो हेतु को विधिसाधक और अभावरूप हो तो निषेधसाधक समझ लो।

(२) इसी प्रकार हेतु यदि सद्भाव रूप है तो उसे उपलब्धि समझो और निषेधरूप हो तो अनुपलब्धि समझो।

(३) साध्य और हेतु–दोनों यदि सद्भावरूप हों या दोनों अभावरूप हो तो हेतु को 'अविरुद्ध' समझना चाहिए। दोनों में से कोई एक सद्भावरूप हो और एक अभाव रूप हो तो 'विरुद्ध' समझना चाहिए।

(४) अन्त में साध्य और हेतु का परस्पर कैसा सम्बन्ध है, इसका विचार करो। हेतु यदि साध्य से उत्पन्न होता है तो कार्य होगा, साध्य को उत्पन्न करता है तो कारण होगा, पूर्वभावी है तो पूर्वचर होगा, बाद में होता है तो उत्तरचर होगा। अगर दोनों मे तादात्म्य सम्बन्ध है तो व्याप्य या व्यापक होगा। दोनों साथ-साथ रहते हों तो सहचर होगा।

चतुर्थ परिच्छेद

आगम प्रमाण का विवेचन

आगम का स्वरूप

आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः ॥ १ ॥

उपचारादाप्तवचनं च ॥ २ ॥

अर्थ—आप्त के वचन से होने वाले पदार्थ के ज्ञान को आगम कहते है ॥

उपचार से आप्त का वचन भी आगम कहलाता है ॥

विवेचन—आप्त का स्वरूप अगले सूत्र में बताया जायगा। प्रामाणिक पुरुष को आप्त कहते हैं। आप्त के शब्दों को सुनकर श्रोता को पदार्थ का ज्ञान होता है। उसी ज्ञान को आगम कहते हैं। आगम के इस लक्षण से ज्ञात होता है कि आगम-ज्ञान मे आप्त कारण होते हैं। अतः शब्द कारण हैं और ज्ञान कार्य है। कारण मे कार्य का उपचार करने से आप्त के वचन भी आगम कहलाते हैं।

आगम का उदाहरण

समस्त्यत्र प्रदेशे रत्ननिधानं, सन्ति रत्नसानुप्रभृतयः ॥३॥

अर्थ—इस जगह रत्नों का खजाना है, मेरु पर्वत आदि हैं।

विवेचन—आगम के यहाँ दो उदाहरण हैं। इन वाक्यों को सुनने से होने वाला ज्ञान आगम कहलाता है, और ये दोनो वाक्य उपचार से आगम हैं। आगे आप्त के दो भेद बतायेंगे, उन्हीं की अपेक्षा यहाँ दो उदाहरण बताये हैं।

आप्त का स्वरूप

अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते, यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्तः ॥ ४ ॥

तस्य हि वचनमविसंवादि भवति ॥ ५ ॥

अर्थ—कही जाने वाली वस्तु को जो ठीक-ठीक जानता हो और जैसी जानता हो वैसी ही कहता हो, वह आप्त है ॥

उस यथार्थज्ञाता और यथार्थ वक्ता का कथन ही विसंवाद रहित होता है।

विवेचन—मिथ्या भाषण के दो कारण होते हैं—(१) अज्ञान और (२) कषाय। मनुष्य किसी वस्तु का स्वरूप ठीक-ठीक नहीं जानता हो फिर भी उस वस्तु का कथन करे तो उसका कथन मिथ्या होगा। अथवा वस्तु का स्वरूप ठीक-ठीक जानकर भी कोई कषाय के कारण अन्यथा भाषण करता है। उसका भी कथन मिथ्या होता है। जिस पुरुष में यह दोनों कारण न हो अर्थात् जिसे वस्तु का सम्यग्ज्ञान हो और अपने ज्ञान के अनुसार ही भाषण करता हो, उसका कथन मिथ्या नहीं हो सकता। ऐसे ही पुरुष को आप्त कहते हैं।

आप्त के भेद

स च द्वेधा—लौकिको लोकोत्तरश्च ॥ ६ ॥

लौकिको जनकादिः, लोकोत्तरस्तु तीर्थकरादिः॥ ७ ॥

अर्थ—आप्त दो प्रकार के होते हैं—(१) लौकिक आप्त और (२) लोकोत्तर आप्त।

पिता आदि लौकिक आप्त हैं और तीर्थंकर आदि लोकोत्तर आप्त हैं ॥

विवेचन—लोकव्यवहार मे पिता माता आदि प्रामाणिक होते हैं अतः वे लौकिक आप्त हैं और मोक्षमार्ग के उपदेश में तीर्थंकर, गणधर आदि प्रामाणिक होते है इसलिए वे लोकोत्तर आप्त है।

मीमांसक लोग सर्वज्ञ नहीं मानते हैं। उनके मत के अनुसार कोई भी पुरुष, कभी भी सर्वज्ञ नहीं हो सकता। उनसे कोई कहे कि जब सर्वज्ञ नहीं हो सकता तो आपके आगम भी सर्वज्ञोक्त नही है। फिर उन्हे प्रमाण कैसे माना जाय ? तब वे कहते हैं—"वेद हमारा मूल आगम है और वह न सर्वज्ञोक्त है न असर्वज्ञोक्त है। वह किसी का उपदेश नहीं है, किसी ने उसे बनाया नहीं है। वह अनादिकाल से यों ही चला आ रहा है। इसी कारण वह प्रमाण है।" मीमांसकों के इस मत का विरोध करते हुए यहाँ यह प्रतिपादन किया गया है कि आप्तोक्त होने से ही कोई वचन प्रमाण हो सकता है, अन्यथा नहीं।

वचन का लक्षण

वर्णपदवाक्यात्मकं वचनम् ॥ ८ ॥

अकारादिः पौद्गलिको वर्णः ॥ ९ ॥

वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां निरपेक्षा संहतिः पदम्, पदानां तु वाक्यम् ॥ १० ॥

अर्थ—वर्ण, पद और वाक्य रूप वचन कहलाता है।

भाषावर्गणा से बने हुए अ आदि वर्ण कहलाते हैं ॥

परस्पर सापेक्ष वर्णों के निरपेक्ष समूह को पद कहते हैं और परस्पर सापेक्ष पदों के निरपेक्ष समूह को वाक्य कहते हैं॥

विवेचन—वर्ण, पद और वाक्य ये मिलकर वचन कहलाते हैं। अ, आ, आदि स्वरों को तथा क्, ख्, आदि व्यजनों को वर्ण कहते हैं। यह वर्ण भाषावर्गणा नामक पुद्गल द्रव्य से बनते है। इन वर्णों के पारस्परिक मेल से पद बनता है और पदों के मेल से वाक्य बनता है।

वर्णों का मेल जब ऐसा होता है कि उसमें किसी और वर्ण को मिलाने की आवश्यकता न रहे और मिले हुए वही वर्ण किसी अर्थ का बोध करादें तभी उन्हें पद कह सकते है; निरर्थक वर्ण-समूह को पद नहीं कह सकते। जैसे 'महावीर' यह वर्ण समूह पद है, क्योंकि इससे वर्धमान भगवान के अर्थ का बोध होता है और इस अर्थबोध के लिये और किसी भी वर्ण की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार पदों का वही समूह वाक्य कहलाता है, जो योग्य अर्थ का बोध कराता हो और अर्थ के बोध के लिए अन्य किसी पद की अपेक्षा न रखता हो।

शब्द अर्थबोधक कैसे है ?

स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः॥११॥

अर्थ—स्वाभाविक शक्ति और संकेत के द्वारा शब्द, पदार्थ का बोधक होता है।

विवेचन—शब्द को सुनकर उससे पदार्थ का बोध क्यों होता है ? इस प्रश्न का यहाँ समाधान किया गया है। शब्द के पदार्थ का ज्ञान होने के दो कारण हैं—(१) शब्द की स्वाभाविक शक्ति और (२) संकेत।

(१) स्वाभाविक शक्ति—जैसे ज्ञान में ज्ञेय पदार्थ का बोध कराने की स्वाभाविक शक्ति है, अथवा सूर्य में पदार्थों को प्रकाशित कर देने की स्वाभाविक शक्ति है, उसी प्रकार शब्द में अभिधेय पदार्थ का बोध करा देने की शक्ति है। इस शक्ति को योग्यता अथवा वाच्य वाचक शक्ति भी कहते हैं।

संकेत—प्रत्येक शब्द में, प्रत्येक पदार्थ का बोध कराने की शक्ति विद्यमान है। किन्तु एक ही शब्द यदि संसार में समस्त पदार्थों का वाचक बन जायगा तो लोक-व्यवहार नहीं चलेगा। लोक-व्यवहार के लिए यह आवश्यक है कि अमुक शब्द अमुक अर्थ का ही वाचक हो। ऐसी नियतता लाने के लिये संकेत की आवश्यकता है।

इस प्रकार स्वाभाविक सामर्थ्य और संकेत के द्वारा शब्द से पदार्थ का ज्ञान होता है।

अर्थप्रकाशकत्वमस्य स्वाभाविकं प्रदीपवत्, यथार्था-यथार्थत्वे पुनः पुरुषगुणदोषावनुसरतः ॥ १२ ॥

अर्थ—जैसे दीपक स्वभाव से पदार्थ को प्रकाशित करता है उसी प्रकार शब्द स्वभाव से पदार्थ को प्रकाशित करता है; किन्तु सत्यता और असत्यता पुरुष के गुण-दोष पर निर्भर है।

विवेचन—दीपक के समीप अच्छा या बुरा जो भी पदार्थ होगा उसीको दीपक प्रकाशित करेगा उसी प्रकार शब्द वक्ता द्वारा प्रयोग किये जाने पर पदार्थ का बोध करा देगा, चाहे वह पदार्थ वास्तविक हो या अवास्तविक हो, काल्पनिक हो या सत्य हो। तात्पर्य यह है कि शब्द का कार्य पदार्थ का बोध कराना है, उसमें सचाई और झुठाई के वक्ता गुणों और दोषों पर निर्भर है। वक्ता यदि गुणवान् होगा तो शाब्दिक ज्ञान सत्य होगा, वक्ता यदि दोषी होगा तो शाब्दिक ज्ञान मिथ्या होगा।

शब्द की प्रवृत्ति

सर्वत्रायं ध्वनिर्विधिप्रतिषेधाभ्यां स्वार्थमभिदधानः सप्तभंगीमनुगच्छति ॥ १३ ॥

अर्थ—शब्द, सर्वत्र विधि और निषेध के द्वारा अपने वाच्य-अर्थ का प्रतिपादन करता हुआ सप्तभंगी के रूप मे प्रवृत्त होता है।

सप्तभंगी का स्वरूप

एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा-वाक्प्रयोगः सप्तभङ्गी ॥ १४ ॥

अर्थ—एक ही वस्तु में, किसी एक धर्म (गुण) सम्बन्धी प्रश्न के अनुरोध से सात प्रकार के वचन-प्रयोग को सप्तभंगी कहते हैं। वह वचन 'स्यात्' पद से युक्त होता है और उसमें कहीं विधि की विवक्षा होती है, कहीं निषेध की विवक्षा होती है और कहीं दोनों की विवक्षा होती है।

विवेचन—प्रत्येक पदार्थ में अनन्त धर्म पाये जाते हैं, अथवा यों कहें कि अनन्त धर्मों का पिंड ही पदार्थ कहलाता है। इन अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म को लेकर कोई पूछे कि, अमुक धर्म सत् है ? या असत् है ? या सत् और असत् उभय रूप है ? इत्यादि। तो इन प्रश्नों के अनुसार उस एक धर्म के विषय में सात प्रकार के उत्तर देने पड़ेंगे। प्रत्येक उत्तर के साथ 'स्यात्' (कथंचित्) शब्द जुड़ा होगा। कोई उत्तर विधि रूप होगा—अर्थात् कोई उत्तर हाँ में होगा कोई नहीं में होगा। किन्तु विधि और निषेध में विरोध नहीं होना चाहिये। इस प्रकार सात प्रकार के उत्तर को—अर्थात् वचन-प्रयोग को सप्तभंगी कहते हैं।

सप्तभंगी से हमें यह ज्ञान होजाता है कि पदार्थ में धर्म किस प्रकार से रहते हैं।

सात भंग

तद्यथा—स्यादस्त्येव सर्वमिति विधिकल्पनया प्रथमो भङ्गः ॥ १५ ॥

स्यान्नास्त्येव सर्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयो भङ्गः ॥१६॥

स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया तृतीयः ॥ १७ ॥

स्यादवक्तव्यमेवेति युगपद्विधिनिषेधकल्पनया चतुर्थः ॥१८॥

स्यादस्त्येव स्यादवक्तमेवेति विधिकल्पनया युगपद् विधिनिषेधकल्पनया च पञ्चमः ॥ १९ ॥

स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तमेवेति निषेधकल्पनया युगपद् विधिनिषेधकल्पनया च षष्ठः ॥ २० ॥

स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति क्रमतो विधिनिषेधकल्पनया युगपद् विधिनिषेधकल्पनया च सप्तम इति ॥ २१ ॥

१ अर्थ—स्यात् (कथञ्चित्) सब पदार्थ हैं, इस प्रकार विधि की कल्पना से पहला भङ्ग होता है ॥

२ कथचित् सब पदार्थ नहीं हैं, इस प्रकार निषेध की कल्पना से दूसरा भंग होता है ॥

३ कथंचित् सब पदार्थ हैं, कथंचित् नहीं हैं, इस प्रकार क्रम से विधि और निषेध की कल्पना से तीसरा भंग होता है ॥

४ कथंचित् सब पदार्थ अवक्तव्य हैं, इस प्रकार एक साथ विधि-निषेध की कल्पना से चौथा भङ्ग होता है ॥

५ कथंचित् सब पदार्थ हैं और कथंचित् अवक्तव्य हैं, इस प्रकार विधि की कल्पना से और एक साथ विधि-निषेध की कल्पना से पाँचवाँ भङ्ग होता है ।।

६ कथंचित् सब पदार्थ नहीं है और कथंचित् अवक्तव्य हैं, इस प्रकार निषेध की कल्पना से और एक साथ विधि-निषेध की कल्पना से छट्ठा भङ्ग होता है ॥

७ कथंचित् सब पदार्थ हैं, कथंचित् नहीं हैं, कथंचित् अवक्तव्य हैं, इस प्रकार क्रम से विधि-निषेध की कल्पना से और युगपद् विधि-निषेध की कल्पना से सातवाँ भङ्ग होता है।

विवेचन—सप्तभंगी के स्वरूप में बताया गया है कि एक ही

धर्म के विषय मे सात प्रकार के वचन-प्रयोग को सप्तभंगी कहते हैं। यहाँ सात प्रकार का वचन-प्रयोग करके सप्तभंग को ही स्पष्ट किया गया है। घट पदार्थ के एक अस्तित्व धर्म को लेकर सप्तभंगी इस प्रकार बनती है—

(१) स्यात् अस्ति घटः (२) स्यात् नास्ति घटः (३) स्यात् अस्ति नास्ति घटः (४) स्यात् अवक्तव्यो घटः (५) स्यात् अस्ति अवक्तव्यो घटः (६) स्यात् नास्ति-अवक्तव्यो घटः (७) स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्यो घट ।

यहाँ अस्तित्व धर्म को लेकर कहीं विधि, कहीं निषेध और कहीं विधि-निषेध दोनों क्रम से और कहीं दोनों एक साथ, घट मे बताये गये हैं। यहाँ यह प्रश्न होता है कि घट यदि है तो नहीं कैसे है ? घट नहीं है तो है कैसे ? इस विरोध को दूर करने के लिये ही 'स्यात्' (कथचित) शब्द सबके साथ जोड़ा गया है। 'स्यात्' का अर्थ है, किसी अपेक्षा से। जैसे—

(१) स्यात् अस्ति घटः—घट कथचित् है—अर्थात् स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्व-भाव की अपेक्षा से घट है।

(२) स्यात् नास्ति घटः—घट कथंचित् नहीं है—अर्थात् पर-द्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से घट नहीं है।

(३) स्यादस्ति नास्ति घटः—घट कथंचित् है, कथंचित् नहीं है—अर्थात् घट में स्व द्रव्यादि से अस्तित्व और पर द्रव्यादि से नास्तित्व है। यहाँ क्रम से विधि और निषेध की विवक्षा की गई है।

(४) स्यात् अवक्तव्यो घटः—घट कथंचित् अवक्तव्य है—जब विधि और निषेध दोनों की एक साथ विवक्षा होती है तब दोनो को

एक साथ बनाने वाला कोई शब्द न होने से घट को अवक्तव्य कहना पड़ा है।

(५) केवल विधि और एक साथ विधि-निषेध की विवक्षा करने से 'घट है और अवक्तव्य है' यह पाँचवाँ भंग बनता है।

(६) केवल निषेध और एक साथ विधि-निषेध-दोनों की विवक्षा से 'घट नहीं है और अवक्तव्य है' यह छठा भंग बनता है।

(७) क्रम से विधि-निषेध-दोनो की और एक साथ विधि-निषेध-दोनो की विवक्षा से 'घट है, नहीं है, और अवक्तव्य है' यह सातवाँ भंग बनता है।

प्रथम भंग के एकान्त का निराकरण

विधिप्रधान एव ध्वनिरिति न साधु ॥ २२ ॥

निषेधस्य तस्मादप्रतिपत्तिप्रसक्तेः ॥ २३ ॥

अप्राधान्येनैव ध्वनिस्तमभिधत्ते इत्यप्यसारं ॥ २४ ॥

क्वचित् कदाचित् कथञ्चित्प्राधान्येनाप्रतिपन्नस्य तस्याप्राधान्यानुपपत्तेः ॥ २५ ॥

अर्थ—शब्द प्रधानरूप से विधि को ही प्रतिपादन करता है, यह कथन ठीक नहीं ॥

क्योंकि शब्द से निषेध का ज्ञान नहीं हो सकेगा ॥

शब्द निषेध को अप्रधान-रूप से ही प्रतिपादन करता है, यह कथन भी निस्सार है।

क्योंकि जो वस्तु कहीं, कभी, किसी प्रकार प्रधान रूप से नहीं जानी गई है वह अप्रधान रूप से नहीं जानी जा सकती ॥

विवेचन—सप्तभंगी का स्वरूप बताते हुए शब्द को विधि-निषेध आदि का वाचक कहा गया है। यहाँ 'शब्द विधि का ही वाचक है' इस एकान्त का खण्डन किया गया है।' इस खण्डन का प्रश्नोत्तर रूप से समझना सुगम होगा:—

एकान्तवादी—शब्द विधि का ही वाचक है, निषेध का वाचक नहीं है।

अनेकान्तवादी—आपका कथन ठीक नहीं है। ऐसा मानने से तो निषेध का ज्ञान शब्द से होगा ही नहीं।

एकान्तवादी—शब्द से निषेध का ज्ञान अप्रधान रूप से होता है, प्रधान रूप से नहीं।

अनेकान्तवादी—जिस वस्तु को कभी कहीं प्रधानरूप में—असली तौर पर—नहीं जाना उसे अप्रधान रूप से जाना नहीं जा सकता। अत. निषेध यदि कभी कहीं प्रधान रूप से नहीं जाना गया तो अप्रधान रूप से भी वह नहीं जाना जा सकता। जो असली केसरी को नहीं जानता वह पंचास्य केसरी को कैसे जानेगा? अतएव शब्द को विधि का ही वाचक नहीं मानना चाहिए।

द्वितीय भंग के एकान्त का निराकरण

निषेधप्रधान एव शब्द इत्यपि प्रागुक्तन्यायादपास्तम् ॥ २६ ॥

अर्थ—शब्द प्रधान रूप से निषेध का ही वाचक है, यह एकान्त कथन भी पूर्वोक्त न्याय से खण्डित हो गया।

विवेचन—शब्द यदि प्रधान रूप से निषेध का ही वाचक माना जाय तो उससे विधि का ज्ञान कभी नहीं होगा। विधि अप्रधान रूप में ही शब्द से मालूम होती है, यह कथन भी मिथ्या है, क्योंकि जिसे प्रधान रूप से कभी कही नहीजाना उसे से गौण रूप में भी नहीं जा जान सकते।

तृतीय भंग के एकांत का निराकरण

क्रमादुभयप्रधान एवायमित्यपि न साधीयः ॥ २७ ॥
अस्य विधिनिषेधान्यतरप्रधानत्वानुभवस्याऽप्यबाध्यमानत्वात् ॥ २८ ॥

अर्थ—शब्द क्रम से विधि-निषेध का (तीसरे भंग का) ही प्रधान रूप से वाचक है, ऐसा कहना भी समीचीन नहीं है ॥

क्योंकि शब्द अकेले विधि का और अकेले निषेध का प्रधान रूप से वाचक है, इस प्रकार होने वाला अनुभव मिथ्या नहीं है ॥

विवेचन—शब्द सिर्फ तीसरे भंग का वाचक है, इस एकान्त का यहाँ खण्डन किया गया है, क्योंकि शब्द तीसरे भंग की तरह प्रथम और द्वितीय का भी वाचक है, ऐसा अनुभव होता है।

चतुर्थ भंग के एकान्त का निराकरण

युगपद्विध्यात्मनोऽर्थस्याऽवाचक एवासाविति च न चतुरस्रम् ॥ २९ ॥

तस्यावक्तव्यशब्देनाप्यवाच्यत्वप्रसङ्गात् ॥ ३० ॥

अर्थ- -शब्द एक साथ विधि-निषेध रूप पदार्थ का अवाचक ही है, ऐसा कहना उचित नहीं है ॥

क्योंकि ऐसा मानने से पदार्थ अवक्तव्य शब्द से भी वक्तव्य नहीं होगा ॥

विवेचन—शब्द चतुर्थ अंग अर्थात् अवक्तता को ही प्रतिपादन करता है, ऐसा मान लेने पर पदार्थ सर्वथा अवक्तव्य हो जायगा; फिर वह अवक्तव्य शब्द से भी नहीं कहा जा सकेगा। अतः केवल चतुर्थ भंग का वाचक शब्द नहीं माना जा सकता।

पंचम भङ्ग के एकांत का निराकरण

विध्यात्मनोऽर्थस्य वाचकः सन्नुभयात्मनो युगपदवाचक एव स इत्येकान्तोपि न कान्तः ॥ ३१ ॥

निषेधात्मनः सह द्वयात्मनश्चार्थस्य वाचकत्वावाचकाभ्यामपि शब्दस्य प्रतीयमानत्वात् ॥ ३२ ॥

अर्थस्य—शब्द विधि रूप पदार्थ का वाचक होता हुआ उभयात्मक-विधि निषेध रूप पदार्थ का युगपत् अवाचक ही है, अर्थात् पंचम भंग का ही वाचक है; ऐसा एकान्त मानना ठीक नहीं है ॥

क्योंकि शब्द निषेध रूप पदार्थ का वाचक और युगपत् द्वयात्मक (विधि-निषेध रूप) पदार्थ का अवाचक है, ऐसी भी प्रतीति होती है ॥

विवेचन—शब्द केवल पंचम भंग का ही वाचक है, ऐसा मानना मिथ्या है क्योंकि वह 'स्यात् नास्ति अवक्तव्य' रूप छठे भङ्ग का वाचक भी प्रतीत होता है।

षष्ठ भङ्ग के एकांत का निराकरण

निषेधात्मनोऽर्थस्यैव वाचकः सन्नुभयात्मनो युगपद्-वाचक एवायमित्यवधारणं न रमणीयम् ॥ ३३ ॥

इतरथाऽपि संवेदनात् ॥ ३४ ॥

अर्थ—शब्द निषेध रूप पदार्थ का वाचक होता हुआ विधि-निषेध रूप पदार्थ का युगपत् अवाचक ही है, ऐसा एकान्त निश्चय करना ठीक नहीं है ॥

क्योंकि अन्य प्रकार से भी शब्द पदार्थ का वाचक मालूम होता है ॥

विवेचन—शब्द सिर्फ नास्ति अवक्तव्यता रूप छठे भङ्ग का ही वाचक है ऐसा एकान्त भी मिथ्या है क्योंकि शब्द प्रथम, द्वितीय आदि भङ्गो का भी वाचक प्रतीत होता है।

सातवें भङ्ग के एकांत का निराकरण

क्रमाक्रमाभ्यामुभयस्वभावस्य भावस्य वाचकश्चावा-चकश्च ध्वनिर्नान्यथेत्यपि मिथ्या ॥ ३५ ॥

विधिमात्रादि प्रधानतयाऽपि तस्य प्रसिद्धेः प्रतीतिः॥३६॥

अर्थ—शब्द क्रम से उभयरूप और युगपत् उभयरूप पदार्थ

का वाचक और अवाचक है अर्थात् सातवें ही भङ्ग का वाचक है, यह एकान्त भी मिथ्या है ॥

क्योंकि शब्द केवल विधि आदि का भी वाचक है ॥

विवेचन—शब्द क्रम से विधि निषेध रूप पदार्थ का वाचक और युगपत् विधि-निषेध रूप पदार्थ का अवाचक है, अर्थात् केवल सप्तम भङ्ग का ही वाचक है. यह एकान्त मान्यता भी मिथ्या है; क्योंकि शब्द प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि भंगों का भी वाचक है।

भङ्ग-संख्या पर शंका और समाधान

एकत्र वस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्माभ्युपगमेनानन्तभंगीप्रसंगादसंगतैव सप्तभंगीति न चेतसि निधेयम् ॥ ३७ ॥

विधिनिषेधप्रकारापेक्षया प्रतिपर्यायं वस्तुन्यनन्तानामपि सप्तभंगीनामेव सम्भवात् ॥ ३८ ॥

अर्थ—जीव आदि प्रत्येक वस्तु में विधि रूप और निषेधरूप अनन्तधर्म स्वीकार किये हैं अतः अनन्तभंगी मानना चाहिए; सप्तभंगी मानना असंगत है। ऐसा मन मे नहीं सोचना चाहिये ॥

क्योंकि विधि-निषेध के भेद से, एक धर्म को लेकर एक वस्तु मे अनन्त सप्तभंगियाँ ही हो सकती है—अनन्तभंगी नहीं हो सकती ॥

विवेचन—शंकाकार का कथन यह है कि जैनो ने एक वस्तु में अनन्त धर्म माने है अतः उन्हें सप्तभंगी के बदले अनन्तभंगी माननी चाहिए। इसका उत्तर यह दिया गया है कि एक वस्तु में अनन्त धर्म

हैं और एक-एक धर्म को लेकर एक-एक सप्तभंगी ही बनती है इसलिए अनन्त धर्मों की अनन्त सप्तभंगियाँ होगी। और अनन्त सप्तभंगियाँ जैनो ने स्वीकार की हैं।

भंग सम्बन्धी अन्यान्य शंका-समाधान

प्रतिपर्यायं प्रतिपाद्यपर्यनुयोगानां सप्तानामेव संभवात् ॥३६।

तेषामपि सप्तत्वं सप्तविधतज्जिज्ञासानियमात् ॥४०॥

तस्या अपि सप्तविधत्वं सप्तधैव तत्सन्देहसमुत्पादात् ॥४१॥

तस्यापि सप्तप्रकारत्वनियमः स्वगोचरवस्तुधर्माणां सप्त-विधत्वस्यैवोपपत्तेः ॥ ४२ ॥

अर्थ—भंग सात इस कारण होते हैं कि शिष्य के प्रश्न सात ही हो सकते हैं॥

सात प्रकार की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) होती है अतः प्रश्न सात ही होते हैं॥

सात ही सन्देह होते हैं इसलिए जिज्ञासाएँ सात होती हैं॥

सन्देह के विषयभूत अस्तित्व आदि वस्तु के धर्म सात प्रकार के होते हैं अतएव सन्देह भी सात ही होते हैं॥

विवेचन—वस्तु के एक धर्म की अपेक्षा सात ही भंग क्यों होते हैं ? न्यून या अधिक क्यों नहीं होते ? इस शंका का समाधान करने के लिए यहाँ कारण-परम्परा बताई है। सात भंग इसलिए होते हैं कि एक धर्म के विषय में शिष्य के प्रश्न सात ही हो सकते हैं। सात

ही प्रश्न इसलिए हो सकते हैं कि उसमे जिज्ञासाएँ सात ही हो सकती हैं। जिज्ञासाएँ सात इसलिए होती हैं कि उसे सन्देह सात ही होते हैं। सन्देह सात इसलिए होते हैं कि सन्देह के विषयभूत अस्तित्व आदि प्रत्येक धर्म सात प्रकार के ही हो सकते हैं।

सप्तभङ्गी के दो भेद

इयं सप्तभंगी प्रतिभंगं सकलादेशस्वभावा विकलादेश-स्वभावा च ॥ ४३ ॥

अर्थ—यह सप्तभंगी प्रत्येक भंग में दो प्रकार की है—सकलादेश स्वभाव वाली और विकलादेश स्वभाव वाली।

विवेचन—जो सप्तभंगी प्रमाण के अधीन होती है वह सकलादेश स्वभाव वाली कहलाती है और जो नय के अधीन होती है वह विकलादेश स्वभाव वाली होती है।

सकलादेश का स्वरूप

प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुनः कालादिभिरभेद-वृत्तिप्राधान्यात् अभेदोपचारात् वा यौगपद्येन प्रतिपादकं वचः सकलादेशः।

अर्थ—प्रमाण से जानी हुई अनन्त धर्मों वाली वस्तु को, काल आदि के द्वारा, अभेद की प्रधानता से अथवा अभेद का उपचार करके, एक साथ प्रतिपादन करने वाला वचन सकलादेश कहलाता है॥

विवेचन—वस्तु मे अनन्त धर्म हैं, यह बात प्रमाण से सिद्ध है। अतएव किसी भी एक वस्तु का पूर्ण रूप से प्रतिपादन करने के लिए अनन्त शब्दों का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि एक शब्द एक ही धर्म का प्रतिपादन कर सकता है। मगर ऐसा करने से लोक-व्यवहार नहीं चल सकता। अतएव हम एक शब्द का प्रयोग करते हैं। वह एक शब्द मुख्य रूप से एक धर्म का प्रतिपादन करता है, और शेष बचे हुए धर्मों को उस एक धर्म से अभिन्न मान लेते हैं। इस प्रकार एक शब्द से एक धर्म का प्रतिपादन हुआ और उससे अभिन्न होने के कारण शेष धर्मों का भी प्रतिपादन होगया। इस उपाय से एक ही शब्द एक साथ अनन्त धर्मों का अर्थात् सम्पूर्ण वस्तु का प्रतिपादक हो जाता है। इसी को सकलादेश कहते हैं।

शब्द द्वारा साक्षात् रूप से प्रतिपादित धर्म से; शेष धर्मों का अभेद काल आदि द्वारा होता है। काल आदि आठ हैं—(१) काल (२) आत्मरूप (३) अर्थ (४) सम्बन्ध (५) उपकार (६) गुणी-देश (७) ससर्ग (८) शब्द।

मान लीजिये, हमें अस्तित्व धर्म से अन्य धर्मों का अभेद करना है तो वह इस प्रकार होगा—जीव में जिस काल मे अस्तित्व है उसी काल में अन्य धर्म हैं अतः काल की अपेक्षा अस्तित्व धर्म से अन्य धर्मों का अभेद है। इसी प्रकार शेष सात की अपेक्षा भी अभेद समझना चाहिये। इसीको अभेद की प्रधानता कहते हैं। द्रव्यार्थिक नय को मुख्य और पर्यायार्थिक नय को गौण करने से अभेद की प्रधानता होती है। जब पर्यायार्थिक नय मुख्य और द्रव्यार्थिक नय गौण होता है तब अनन्त गुण वास्तव मे अभिन्न नहीं हो सकते। अतएव उन गुणों में अभेद का उपचार करना पड़ता है। इस प्रकार अभेद की प्रधानता और अभेद के उपचार से एक साथ अनन्त धर्मा-

त्मक वस्तु का प्रतिपादन करने वाला वाक्य सकलादेश कहलाता है।

विकलादेश का स्वरूप

तद्विपरीतस्तु विकलादेशः ॥ ४५ ॥

अर्थ—सकलादेश से विपरीत वाक्य विकलादेश कहलाता है॥

विवेचन—नय के विषयभूत वस्तु-धर्म का काल आदि द्वारा भेद की प्रधानता अथवा भेद के उपचार से, क्रम से प्रतिपादन करने वाला वाक्य विकलादेश कहलाता है। सकलादेश में द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता के कारण वस्तु के अनन्त धर्मों का अभेद किया जाता है, विकलादेश में पर्यायार्थिक नय की प्रधानता के कारण उन धर्मों का भेद किया जाता है। यहाँ भी कालादि आठ के आधार पर ही भेद किया जाता है। पर्यायार्थिक नय कहता है—एक ही काल में, एक ही वस्तु में, नाना धर्मों की सत्ता स्वीकार की जायगी तो वस्तु भी नाना रूप ही होगी—एक ही नहीं। इसी प्रकार नाना गुणों सम्बन्धी आत्मरूप भिन्न-भिन्न ही हो सकता है—एक नहीं। इत्यादि।

प्रमाण का प्रतिनियत विषय

तद् द्विभेदमपि प्रमाणमात्मीयप्रतिबन्धकापगमविशेष-स्वरूपसामर्थ्यतः प्रतिनियतमर्थमवद्योतयति ॥ ४६ ॥

अर्थ—वह प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार का प्रमाण, अपना अपना आवरण करने वाले कर्मों के क्षयोपशम रूप शक्ति से नियत-नियत पदार्थ को प्रकाशित करता है।

विवेचन—परोक्ष ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से परोक्ष प्रमाण उत्पन्न होता है और प्रत्यक्ष ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से प्रत्यक्ष प्रमाण उत्पन्न होता है। इसी प्रकार घट-ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर घट का ज्ञान होता है और पट-ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने पर पट का ज्ञान होता है। यही कारण है कि किसी ज्ञान में केवल घट ही प्रतीत होता है और किसी में सिर्फ पट ही प्रतीत होता है। सारांश यह है कि जिस पदार्थ को जानने वाले ज्ञान के आवरण का क्षयोपशम होगा वही पदार्थ उस ज्ञान में प्रकाशित होगा। इस प्रकार क्षयोपशम रूप शक्ति ही नियत-नियत पदार्थों को प्रकाशित करने में कारण है।

मतान्तर का खण्डन

न तदुत्पत्तितदाकारताभ्यां; तयोः पार्थक्येन सामस्त्येन च व्यभिचारोपलम्भात् ॥ ४७ ॥

अर्थ—तदुत्पत्ति और तदाकारता से प्रतिनियत पदार्थ को जानने की व्यवस्था नहीं हो सकती; क्योंकि अकेली तदुत्पत्ति मे, अकेली तदाकारता में और तदुत्पत्ति-तदाकारता दोनो में व्यभिचार पाया जाता है।

विवेचन—ज्ञान का पदार्थ से उत्पन्न होना तदुत्पत्ति है और ज्ञान का पदार्थ के आकार का होना तदाकारता है। बौद्ध इन दोनों से प्रतिनियत पदार्थ का ज्ञान होना मानते हैं। उनका कथन है कि जो ज्ञान जिस पदार्थ से उत्पन्न होता है और जिस पदार्थ के आकार का होता है, वह ज्ञान उसी पदार्थ को जानता है। इस प्रकार तदुत्पत्ति और तदाकारता से ही ज्ञान नियत घट आदि को जानता है, क्षयोप-

शम रूप शक्ति से नहीं। बौद्धो के इस मत का यहाँ खण्डन किया गया है।

बौद्धो की मान्यता के अनुसार पूर्व क्षण, उत्तर क्षण को उत्पन्न करता है और उत्तर क्षण, पूर्व क्षण के आकार का ही होता है। इस मान्यता के अनुसार घट के प्रथम क्षण से अन्तिम क्षण उत्पन्न होता है अतएव वहाँ तदुत्पत्ति होने पर भी अन्तिम क्षण,प्रथम क्षण को नहीं जानता यह तदुत्पत्ति में व्यभिचार है। इसी प्रकार एक स्तम्भ समान आकार वाले दूसरे स्तम्भ को नहीं जानता यह तदाकारता में व्यभिचार है। जल मे प्रतिबिम्बित होने वाला चन्द्रमा, आकाश के चन्द्रमा से उत्पन्न हुआ और उसी आकार का भी है, अतः वहाँ तदुत्पत्ति और तदाकारता दोनो है फिर भी जल-चन्द्र, आकाश-चन्द्र को नहीं जानता। यह तदुत्पत्ति और तदाकारता दोनो मे व्यभिचार है।

यदि यह कहो कि यह सब जड़ पदार्थ हैं, इसलिए नहीं जानते तो पूर्वकालीन घट-ज्ञान से उत्तरकालीन घट-ज्ञान उत्पन्न होता है और वह तदाकार भी है और ज्ञान-रूप भी है, फिर भी वह उत्तरकालीन घट ज्ञान पूर्वकालीन घट ज्ञान को नहीं जानता (घट को ही जानता है), अतएव ज्ञानरूपता होने पर भी तदुत्पत्ति और तदाकारता मे व्यभिचार आता है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि तदुत्पत्ति और तदाकारता अलग-अलग या मिलकर भी प्रतिनियत पदार्थ के ज्ञान मे कारण नहीं हैं, किंतु ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ही यह व्यवस्था होती है।

पंचम परिच्छेद

प्रमाण के विषय का निरूपण

प्रमाण का विषय

तस्य विषयः सामान्यविशेषाद्यनेकान्तात्मकं वस्तु ॥१॥

अर्थ—सामान्य, विशेष आदि अनेक धर्मों वाली वस्तु प्रमाण का विषय है।

विवेचन—सामान्य, विशेष आदि अनेक धर्मों का समूह ही वस्तु है। अनेक पदार्थों में एकसी प्रतीति उत्पन्न करने वाला और उन्हें एक ही शब्द का वाच्य बनाने वाला धर्म सामान्य कहलाता है। जैसे अनेक गायों में 'यह भी गौ है, यह भी गौ है', इस प्रकार का ज्ञान और शब्द प्रयोग कराने वाला 'गोत्व धर्म' सामान्य है। इससे विपरीत एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ मे भेद कराने वाला धर्म विशेष कहलाता है; जैसे उन्हीं अनेक गायों में नीलापन, ललाई, सफेदी आदि। सामान्य और विशेष जैसे वस्तु के स्वभाव हैं उसी प्रकार और भी अनेक धर्म उसके स्वभाव हैं। ऐसी अनेक स्वभाव वाली वस्तु ही प्रमाण का विषय है।

सामान्य-विशेषरूपता का समर्थन

अनुगतविशिष्टाकारप्रतीतिविषयत्वात्, प्राचीनोत्तरा-

कारपरित्यागोपादानावस्थानस्वरूपपरिणत्याऽर्थक्रियासामर्थ्य-घटनाच्च ॥ २ ॥

अर्थ—सामान्य विशेष रूप पदार्थ प्रमाण का विषय है, क्योंकि वह अनुगत प्रतीति (सदृश ज्ञान) और विशिष्टाकार प्रतीति (भेद-ज्ञान) का विषय होता है। दूसरा हेतु—क्योंकि पूर्व पर्याय के विनाश रूप, उत्तर पर्याय के उत्पाद रूप और दोनों पर्यायों में अवस्थिति रूप परिणति में अर्थक्रिया की शक्ति देखी जाती है।

विवेचन—जिन पदार्थों में एक दृष्टि से हमें सदृशता—समानता की प्रतीति होती है उन्हीं पदार्थों में दूसरी दृष्टि से विसदृशता—विशेष की प्रतीति भी होने लगती है। दृष्टि में भेद होने पर भी जब तक पदार्थ में सदृशता और विसदृशता न हो तब तक उनकी प्रतीति नहीं हो सकती। इससे यह सिद्ध है कि पदार्थ में सदृशता की प्रतीति उत्पन्न करने वाला सामान्य है और विसदृशता की प्रतीति उत्पन्न करने वाला विशेष धर्म भी है।

इसके अतिरिक्त पदार्थ पर्याय रूप से उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, फिर भी द्रव्य रूप में अपनी स्थिति कायम रखता है। इस प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मय होकर ही वह अपनी क्रिया करता है। यहाँ उत्पाद-व्यय पदार्थ की विशेषरूपता सिद्ध करते हैं और ध्रौव्य सामान्य रूपता सिद्ध करता है।

इन दोनों हेतुओं से यह स्पष्ट होजाता है कि सामान्य और विशेष दोनों ही वस्तु के धर्म हैं।

सामान्य का निरूपण

सामान्यं द्विप्रकारं–तिर्यक्सामान्यमूर्ध्वतासामान्यश्च ॥३॥

प्रतिव्यक्ति तुल्या परिणतिस्तिर्यक्सामान्यं, शबल-शाबलेयादिपिण्डेषु गोत्वं यथा ॥ ४ ॥

पूर्वापरपरिणामसाधारणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यं, कटक-कंकणाद्यनुगामिकाञ्चनवत् ॥ ५ ॥

अर्थ—सामान्य दो प्रकार का है—तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य ॥

प्रत्येक व्यक्ति में समान परिणाम को तिर्यक् सामान्य कहते हैं, जैसे—चितकबरी, श्याम, लाल आदि गायों में 'गोत्व' तिर्यक् सामान्य है।

पूर्व पर्याय और उत्तर पर्याय में समान रूप से रहने वाला द्रव्य ऊर्ध्वतासामान्य कहलाता है; जैसे—कड़े, कंकण आदि पर्यायों में समान रहने वाला सुवर्ण द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्य है ॥

विवेचन—तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य के उदाहरणों को देखने से विदित होगा कि ध्यान-पूर्वक एक काल में अनेक व्यक्तियों में पाई जाने वाली समानता तिर्यक् सामान्य है और अनेक कालों में एक ही व्यक्ति में पाई जाने वाली समानता ऊर्ध्वता सामान्य है। दोनों सामान्यों के स्वरूप में यही भेद है।

विशेष का निरूपण

विशेषोऽपि द्विरूपो–गुणः पर्यायश्च ॥ ६ ॥

गुणः सहभावी धर्मो, यथा-आत्मनि विज्ञानव्यक्ति-शक्त्यादयः ॥ ७ ॥

पर्यायस्तु क्रमभावी, यथा–तत्रैव सुखदुःखादि ॥ ८ ॥

अर्थ—विशेष भी दो प्रकार का है—गुण और पर्याय ॥

सहभावी अर्थात् सदा साथ रहने वाले धर्म को गुण कहते है।

जैसे—वर्तमान में विद्यमान कोई ज्ञान और भावी ज्ञान रूप परिणाम की योग्यता।

एक द्रव्य में क्रम से होने वाले परिणाम को पर्याय कहते हैं, जैसे आत्मा में सुख-दुःख आदि ॥

विवेचन—सदैव द्रव्य के साथ रहने वाले धर्मों को गुण कहते हैं। जैसे आत्मा मे ज्ञान और दर्शन सदा रहते हैं, इनका कभी विनाश नहीं होता। अतएव यह आत्मा के गुण हैं। रूप, रस, गंध स्पर्श सदैव पुद्गल के साथ रहते हैं—पुद्गल से एक क्षण भर के लिए भी कभी न्यारे नहीं होते, अतः रूप आदि पुद्गल के गुण हैं। गुण द्रव्य की भाँति अनादि अनन्त होते हैं।

पर्याय इससे विपरीत है। वह उत्पन्न होती रहती है और नष्ट भी होती रहती है। आत्मा जब मनुष्य-भव का त्याग कर देव-भव में जाती है तब मनुष्य पर्याय का विनाश होजाता है और देव पर्याय की उत्पत्ति हो जाती है। एक वस्तु की एक पर्याय का नाश होने पर उसके स्थान पर दूसरी पर्याय उत्पन्न होती है अतएव पर्याय को क्रम-भावी कहा है।

षष्ठ परिच्छेद

प्रमाण के फल का निरूपण

प्रमाण के फल की व्याख्या

यत्प्रमाणेन प्रसाध्यते तदस्य फलम् ॥ १ ॥

अर्थ—प्रमाण के द्वारा जो साधा जाय—निष्पन्न किया जाय, वह प्रमाण का फल है।

फल के भेद

तद् द्विविधम्—आनन्तर्येण पारम्पर्येण च ॥ २ ॥

अर्थ—फल दो प्रकार का है—अनन्तर (साक्षात्) फल, और परम्परा फल (परोक्ष फल)

फल-निर्णय

तत्रानन्तर्येण सर्वप्रमाणानामज्ञाननिवृत्तिः फलम् ॥३॥

पारम्पर्येण केवलज्ञानस्य तावत्फलमौदासीन्यम् ॥४॥

शेषप्रमाणानां पुनरुपादानहानोपेक्षाबुद्धयः ॥५॥

अर्थ—अज्ञान की निवृत्ति होना सब प्रमाणों का साक्षात् फल है।

केवलज्ञान का परम्परा फल उदासीनता है ॥

शेष प्रमाणों का परम्पराफल ग्रहण करने की बुद्धि, त्याग-बुद्धि और उपेक्षा-बुद्धि होना है ॥

विवेचन—प्रमाण के द्वारा किसी पदार्थ को जानने के बाद ही अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है वह अनन्तर फल या साक्षात् फल है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान, प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि सभी ज्ञानों का साक्षात फल अज्ञान का हट जाना ही है।

अज्ञान-निवृत्ति रूप साक्षात् फल के फल को परम्परा फल कहते हैं क्योंकि यह अज्ञाननिवृत्ति से उत्पन्न होता है। परम्परा फल सब ज्ञानों का समान नहीं है। केवली भगवान केवल ज्ञान से सब पदार्थों को जानते हैं, पर न तो उन्हे किसी पदार्थ को ग्रहण करने की बुद्धि होती है, न किसी पदार्थ को त्यागने की ही। वीतराग होने के कारण सभी पदार्थों पर उनका उदासीनता का भाव रहता है। अतएव केवलज्ञान का परम्परा फल उदासीनता ही है।

केवलज्ञान के अतिरिक्त शेष सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, विकल-पारमार्थिक प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों का परम्परा फल समान है। ग्राह्य पदार्थों को ग्रहण करने का भाव, त्याज्य पदार्थों को त्यागने का भाव और उपेक्षणीय पदार्थों पर उपेक्षा करने का भाव, होना इन प्रमाणों का परम्परा फल है।

प्रमाण और फल का भेदाभेद

तत्प्रमाणतः स्याद्भिन्नमभिन्नं च, प्रमाणफलत्वान्यथानुपपत्तेः ॥ ६ ॥

अर्थ—प्रमाण का फल प्रमाण से कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है, अन्यथा प्रमाण-फलपन नहीं बन सकता।

विवेचन—प्रमाण से प्रमाण का फल सर्वथा भिन्न माना जाय तो दोष आता है और सर्वथा अभिन्न माना जाय तब भी दोष आता है, इसलिए कथंचित् भिन्न-अभिन्न मानना ही उचित है।

फल, प्रमाण से सर्वथा भिन्न माना जाय तो दोनो में कुछ भी सम्बन्ध न होगा, फिर 'इस प्रमाण का यह फल है' ऐसी व्यवस्था नहीं होगी और सर्वथा अभिन्न माना जाय तो दोनों एक ही वस्तु हो जाएँगे—प्रमाण और फल अलग-अलग दो वस्तुएँ सिद्ध न हो सकेंगी।

दोष-परिहार

उपादानबुद्धयादिना प्रमाणाद् भिन्नेन व्यवहितफलेन हेतोर्व्यभिचार इति न विभावनीयम् ॥ ७ ॥

तस्यैकप्रमातृतादात्म्येन प्रमाणादभेदव्यवस्थितेः ॥ ८ ॥

प्रमाणतया परिणतस्यैवात्मनः फलतया परिणतिप्रतीतेः ॥ ९ ॥

यः प्रमिमीते स एवोपादत्ते परित्यजत्युपेक्षते चेति सर्वसंव्यवहारिभिरस्खलितमनुभवात् ॥ १० ॥

इतरथा स्वपरयोः प्रमाणफलव्यवस्थाविप्लवः प्रसज्येत ॥ ११ ॥

अर्थ—उपादान बुद्धि आदि प्रमाण से सर्वथा भिन्न परम्परा

फल से 'प्रमाणफलत्वान्यथानुपपत्ति' रूप हेतु में व्यभिचार आता है, ऐसा नहीं सोचना चाहिए ॥

क्योंकि परम्परा फल भी प्रमाता के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होने के कारण प्रमाण से अभिन्न है ॥

क्योंकि प्रमाण रूप से परिणत आत्मा का ही फल रूप से परिणमन होना, अनुभव सिद्ध है ।

जो जानता है वही वस्तु को ग्रहण करता है, वही त्यागता है, वही उपेक्षा करता है, ऐसा सभी व्यवहार-कुशल लोगों को अनुभव होता है ॥

यदि ऐसा न माना जाय तो स्व और पर के प्रमाण के फल की व्यवस्था नष्ट हो जायगी ॥

विवेचन—प्रमाण का फल, प्रमाण से कथंचित् भिन्न-अभिन्न है, क्योंकि वह प्रमाण का फल है। जो प्रमाण से भिन्न-अभिन्न नहीं होता वह प्रमाण का फल नहीं होता, जैसे घट आदि। इस प्रकार के अनुमान-प्रयोग में दूसरों ने प्रमाण के परम्परा-फल से व्यभिचार दिया। उन्होंने कहा—'परम्परा फल भिन्न-अभिन्न नहीं है फिर भी वह प्रमाण का फल है, अतः आपका हेतु सदोष है।' इसका उत्तर यहाँ यह दिया गया है कि परम्परा फल भी सर्वथा भिन्न नहीं है किन्तु कथंचित् भिन्न-अभिन्न है। अतएव हमारा हेतु सदोष नहीं है।

शंका—उपादान-बुद्धि आदि परम्परा फल अभिन्न कैसे है ?

समाधान—एक प्रमाता में प्रमाण और परम्परा फल का तादात्म्य होने से।

शंका—एक प्रमाता में दोनों का तादात्म्य कैसे है ?

समाधान—जिस आत्मा में प्रमाण होता है उसी में उसका फल होता है अर्थात् जो आत्मा वस्तु को जानता है उसी आत्मा में ग्रहण आदि करने की बुद्धि उत्पन्न होती है । एक के जानने से दूसरे में ग्रहण या त्याग करने की भावना उत्पन्न नहीं होती, इससे प्रमाण और फल का एक ही प्रमाता में तादात्म्य सिद्ध होता है ।

शंका—ऐसा न माने तो हानि क्या है ?

समाधान—प्रथम तो यह कि सभी लोगों का ऐसा ही अनुभव होता है, अतः ऐसा न मानने से अनुभव विरोध होगा । इसके अतिरिक्त ऐसा न मानने से प्रमाण-फल की व्यवस्था ही नष्ट हो जायगी। देवदत्त के जानने से जिनदत्त उस वस्तु का ग्रहण कर लेगा और जिनदत्त द्वारा जानने से देवदत्त उसका त्याग कर देगा । अर्थात् एक को प्रमाण होगा और दूसरे को इसका फल मिल जायगा ।

इस अव्यवस्था से बचने के लिए प्रमाण के परम्परा फल को भी प्रमाण से कथंचित् अभिन्न ही मानना चाहिए और ऐसा मान लेने से हेतु में व्यभिचार भी नहीं आता ।

पुनः दोष-परिहार

अज्ञाननिवृत्तिरूपेण प्रमाणादभिन्नेन साक्षात्फलेन साधनस्यानेकान्त इति नाशङ्कनीयम् ॥

कथञ्चित्तस्यापि प्रमाणाद् भेदेन व्यवस्थानात् ॥१३॥

साध्यसाधनभावेन प्रमाणफलयोः प्रतीयमानत्वात् ।१४।

प्रमाणं हि करणाख्यं साधनं, स्वपरव्यवसितौ साधक-तमत्वात् ॥ १५ ॥

स्वपरव्यवसितिक्रियारूपाज्ञाननिवृत्त्याख्यं फलं तु साध्यम्, प्रमाणनिष्पाद्यत्वात् ॥ १६ ॥

अर्थ—प्रमाण से सर्वथा अभिन्न अज्ञाननिवृत्ति रूप साक्षात् फल से हेतु मे व्यभिचार आता है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए ॥

क्योंकि वह–साक्षात् फल भी प्रमाण से कथंचित् भिन्न है—सर्वथा अभिन्न नहीं है ॥

कथंचित् भेद इसलिए है कि प्रमाण और फल साध्य और और साधन रूप से प्रतीत होते हैं ॥

प्रमाण करण रूप साधन है, क्योंकि वह स्व-पर के निश्चय में साधकतम है ॥

स्व-पर का निश्चय होना रूप अज्ञाननिवृत्ति फल साध्य है, क्योंकि वह प्रमाण से उत्पन्न होता है ॥

विवेचन—पहले परम्परा फल को प्रमाण से सर्वथा भिन्न मान कर हेतु मे दोष दिया गया था, यहाँ साक्षात् फल को सर्वथा अभिन्न मानकर हेतु में व्यभिचार दोष दिया गया है। तात्पर्य यह है कि साक्षात् फल, प्रमाण का फल है पर प्रमाण से कथंचित् भिन्न-अभिन्न नहीं है। इस प्रकार साध्य के अभाव में हेतु रहने से व्यभि-चार दोष है।

किन्तु हेतु में साक्षात् फल से व्यभिचार दोष नहीं है, क्योंकि

परम्परा फल की भाँति साक्षात् फल भी प्रमाण से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है।

शंका—आपने ज्ञान को प्रमाण माना है, अज्ञान निवृत्ति को साक्षात् फल माना है और इन दोनों में कथंचित् भेद भी कहते हैं। पर ज्ञान में और अज्ञाननिवृत्ति में क्या भेद है? यह दोनों एक ही मालूम होते हैं?

समाधान—ज्ञान ही अज्ञान-निवृत्ति नहीं है परन्तु ज्ञान से अज्ञान-निवृत्ति होती है। अतः ज्ञान-रूप प्रमाण साधन है और अज्ञान निवृत्ति रूप फल साध्य है।

प्रमाता और प्रमिति का भेदाभेद

प्रमातुरपि स्वपरव्यवसितिक्रियायाः कथञ्चिद् भेदः।१७।

कर्तृक्रिययोः साध्यसाधकभावेनोपलम्भात् ॥ १८ ॥

कर्त्ता हि साधकः स्वतन्त्रत्वात्, क्रिया तु साध्या कर्तृनिर्वर्त्यत्वात् ॥ १९ ॥

अर्थ—प्रमाता (ज्ञाता) से भी स्व-पर का निश्चय होना रूप क्रिया का कथंचित् भेद है ॥

क्योंकि कर्त्ता और क्रिया में साध्य-साधकभाव पाया जाता है ॥

स्वतन्त्र होने के कारण कर्त्ता साधक है और कर्त्ता द्वारा उत्पन्न होने के कारण क्रिया साध्य है ॥

विवेचन—यहाँ कर्त्ता (प्रमाता) और क्रिया (प्रमिति) का

कथंचित् भेद बताया गया है। अनुमान का प्रयोग इस प्रकार होगा– क्रिया से कर्त्ता कथंचित् भिन्न है, क्योंकि दोनों में साध्य-साधक संबंध है। जहाँ साध्य-साधक सम्बन्ध होता है वहाँ कथंचित् भेद होता है; जैसे देवदत्त में और जाने में।'

कर्त्ता साधक है और क्रिया साध्य है।

एकान्त का खण्डन

न च क्रिया क्रियावतः सकाशादभिन्नैव भिन्नैव वा, प्रतिनियतक्रियाक्रियावद्भावभङ्गप्रसङ्गात् ॥ २० ॥

अर्थ—क्रिया, क्रियावान (कर्त्ता) से न एकान्त भिन्न है और न एकान्त अभिन्न है। एकान्त भिन्न या अभिन्न मानने से नियत 'क्रिया-क्रियावत्व' का अभाव हो जायगा।

विवेचन—यौग लोग क्रिया और क्रियावान् में एकान्त भेद मानते हैं और बौद्ध दोनों में एकान्त अभेद मानते हैं। यह दोनों एकान्त मिथ्या हैं। यदि क्रिया और क्रियावान् में एकान्त भेद माना जाय तो यह 'क्रिया इस क्रियावान् की है' ऐसा नियत सम्बन्ध नहीं सिद्ध होगा। मान लीजिये, देवदत्त क्रियावान, गमन क्रिया कर रहा है, मगर वह क्रिया देवदत्त से इतनी भिन्न है जितनी जिनदत्त से भिन्न है। तब वह क्रिया जिनदत्त की न होकर देवदत्त की ही क्यों कह-लायगी? किन्तु वह क्रिया देवदत्त की ही कहलाती है इससे यह सिद्ध होता है कि क्रिया देवदत्त (क्रियावान्) से कथंचित् अभिन्न है।

इससे विपरीत, बौद्धों के कथनानुसार अगर क्रिया और क्रियावान में एकान्त अभेद मान लिया जाय तो भी 'यह क्रिया इस

क्रियावान् की है' ऐसा सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता। एकान्त अभेद मानने पर या तो क्रिया की ही प्रतीति होगी या कर्त्ता की ही प्रतीति होगी–दोनों अलग-अलग प्रतीत नहीं होंगे। एक ही पदार्थ क्रिया और कर्त्ता दोनों नहीं हो सकता अतएव क्रिया और क्रियावान में कथंचित् भेद भी मानना चाहिए।

शून्यवादी का खण्डन

संवृत्या प्रमाणफलव्यवहार इत्यप्रामाणिकप्रलापः, परमार्थतः स्वाभिमतसिद्धिविरोधात् ॥ २१ ॥

अर्थ--प्रमाण और फल का व्यवहार काल्पनिक है, ऐसा कहना अप्रामाणिक लोगों का प्रलाप है; क्योंकि ऐसा मानने से उसका मत वास्तविक सिद्ध नहीं हो सकता ॥

विवेचन—प्रमाण मिथ्या—काल्पनिक है, और प्रमाण का फल भी मिथ्या है, ऐसा शून्यवादी माध्यमिक का मत है। इस प्रकार प्रमाण को मिथ्या मानने वाला शून्यवादी अपना मत प्रमाण से सिद्ध करेगा या बिना प्रमाण के ही? अगर प्रमाण से सिद्ध करना चाहे तो मिथ्या प्रमाण से वास्तविक मत कैसे सिद्ध होगा? अगर बिना प्रमाण के ही सिद्ध करना चाहे तो अप्रामाणिक बात कौन स्वीकार करेगा? इस प्रकार शून्यवादी अपने मत को वास्तविक रूप से सिद्ध नहीं कर सकता।

निष्कर्ष

ततः पारमार्थिक एव प्रमाणफलव्यवहारः सकलपुरुषार्थसिद्धिहेतुः स्वीकर्त्तव्यः ॥ २२ ॥

अर्थ—अतएव धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष रूप पुरुषार्थों की सिद्धि करने वाला प्रमाण और प्रमाण-फल का व्यवहार वास्तविक ही स्वीकार करना चाहिये।

आभासों का निरूपण

प्रमाणस्य स्वरूपादिचतुष्टयाद्विपरीतं तदाभासम् ॥२३॥

अर्थ—प्रमाण के स्वरूप, संख्या, विषय और फल से विपरीत स्वरूप आदि स्वरूपाभास, संख्याभास, विषयाभास और फलाभास कहलाते हैं।

विवेचन—प्रमाण का जो स्वरूप पहले बतलाया है उससे भिन्न स्वरूप, स्वरूपाभास है। प्रमाण के भेदों से भिन्न प्रकार के भेद मानना संख्याभास है। प्रमाण के पूर्वोक्त विषय से भिन्न विषय मानना विषयाभास है और पूर्वोक्त फल से भिन्न फल मानना फलाभास है।

स्वरूपाभास का कथन

अज्ञानात्मकानात्मप्रकाशकस्वमात्रावभासकनिर्विकल्पकसमारोपाः प्रमाणस्य स्वरूपाभासाः ॥ २४ ॥

यथा सन्निकर्षाद्यस्वसंविदितपरानवभासकज्ञान-दर्शन-विपर्यय-संशयानध्यवसायाः ॥ २५ ॥

अर्थ—अज्ञान-अनात्म प्रकाशक-स्वमात्रप्रकाशक-निर्विकल्पक ज्ञान, और समारोप प्रमाण के स्वरूपाभास हैं॥

जैसे सन्निकर्ष, स्व को न जानने वाला ज्ञान, पर को न जानने वाला ज्ञान, दर्शन, विपर्यय, संशय और अनध्यवसाय ॥

विवेचन—प्रमाण के स्वरूप से स्वरूपाभास की तुलना करने से विदित होगा कि स्वरूपाभास, स्वरूप से सर्वथा विपरीत है।

अज्ञान रूप सन्निकर्ष को प्रमाण का स्वरूप कहना, स्व को अथवा पर को न जानने वाले ज्ञान को प्रमाण कहना, अनिश्चयात्मक ज्ञान अथवा दर्शन को प्रमाण कहना या समारोप को प्रमाण कहना, प्रमाण का स्वरूपाभास है।

स्वरूपाभास होने का कारण

तेभ्यः स्व-परव्यवसायस्यानुपपत्तेः ॥ २६ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त ज्ञान आदि से स्व-पर का व्यवसाय नहीं हो सकता (इसलिये वे स्वरूपाभास हैं)।

विवेचन—प्रमाण का स्वरूप बताते समय कहा गया था कि जो ज्ञान स्व और पर का यथार्थ निश्चय करने वाला हो वही प्रमाण हो सकता है; पर स्वरूपाभासों की गणना करते समय जो ज्ञान बताये हैं उनसे स्व-पर का यथार्थ निश्चय नही होता, अतएव वे स्वरूपाभास है। इन ज्ञानो में कोई 'स्व' का निश्चायक नहीं, कोई पर का निश्चायक नहीं, कोई स्व-पर दोनों का निश्चायक नहीं है और निर्विकल्पक, दर्शन तथा समारोप यथार्थ निश्चायक नहीं हैं। सन्निकर्ष ज्ञान रूप नहीं है। अतः इनमें प्रमाण का स्वरूप घटित नही होता।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास

सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमिव यदाभासते तत्तदाभासम् ॥२७

यथा-अम्बुधरेषु गन्धर्वनगरज्ञानं, दुःखे सुखज्ञानञ्च॥२८

अर्थ—जो ज्ञान वास्तव में सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष न हो किन्तु सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष सरीखा जान पड़ता हो वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास है ॥

जैसे—मेघों में गन्धर्व-नगर का ज्ञान होना और दुःख में सुख का ज्ञान होना ॥

विवेचन—सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास का लक्षण स्पष्ट है। यहाँ 'मेघो मे गन्धर्व-नगर का ज्ञान', यह उदाहरण इन्द्रिय निबंधन सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास का उदाहरण है, क्योंकि यह इन्द्रियो मे होता है 'और दुःख में सुख का ज्ञान' यह उदाहरण अनिन्द्रियनिबंधन-सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास का उदाहरण है क्योंकि यह ज्ञान मन मे उत्पन्न होता है।

पारमार्थिक प्रत्यक्षाभास

पारमार्थिकप्रत्यक्षमिव यदाभासते तत्तदाभासम् ॥२६॥

यथा-शिवाख्यस्य राजर्षेरसंख्यातद्वीपसमुद्रेषु सप्तद्वीप-समुद्रज्ञानम् ॥ ३० ॥

अर्थ—जो ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष न हो किन्तु पारमार्थिक प्रत्यक्ष सरीखा झलके उसे पारमार्थिक प्रत्यक्षाभास कहते हैं।।

जैसे—शिव नामक राजर्षि का असंख्यात द्वीप-समुद्रों मे से सिर्फ सात द्वीप समुद्रों का ज्ञान ॥

विवेचन—शिव राजर्षि को विभंगावधि ज्ञान उत्पन्न हुआ

था। उस ज्ञान से ऋषि को सात द्वीप-समुद्रों का ज्ञान हुआ—आगे के द्वीप-समुद्र उन्हें मालूम नहीं हुए। तब उन्होंने यह प्रसिद्ध किया कि मध्यलोक में सिर्फ सात द्वीप और सात समुद्र हैं, अधिक नहीं। ऋषि के इस विभंग ज्ञान का कारण मिथ्यात्व था। अतएव यह उदाहरण अवधिज्ञानाभास का है। मनःपर्याय ज्ञान और केवलज्ञान के आभास कभी नहीं होते, क्योंकि यह दोनों ज्ञान मिथ्यादृष्टि को नहीं होते।

स्मरणाभास

अननुभूते वस्तुनि तदिति ज्ञानं स्मरणाभासम् ॥३१॥

अननुभूते मुनिमण्डले तन्मुनिमण्डलमिति यथा ॥३२॥

अर्थ—पहले जिसका अनुभव न हुआ हो उस वस्तु में 'वह' ऐसा-ज्ञान होना स्मरणाभास है ॥

जैसे—जिस मुनि-मण्डल का पहले अनुभव न हुआ हो उसमें 'वह मुनिमण्डल' ऐसा ज्ञान होना ॥

विवेचन—जिस मुनिमंडल को पहले कभी नहीं जाना-देखा, उसका 'वह मुनि-मंडल' इस प्रकार स्मरण करना स्मरणाभास है। क्योंकि स्मरणज्ञान अनुभूत पदार्थ में ही होता है।

प्रत्यभिज्ञानाभास

तुल्ये पदार्थे स एवायमिति, एकस्मिंश्च तेन तुल्य इत्यादि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानाभासम् ॥ ३३ ॥

यमलकजातवत् ॥ ३४ ॥

अर्थ—समान पदार्थ में 'यह वही है' ऐसा ज्ञान होना और उसी पदार्थ में 'यह उसके समान है' इत्यादि ज्ञानों को प्रत्यभिज्ञानाभास कहते हैं ।।

जैसे—एक साथ उत्पन्न होने वाले बालकों में विपरीत ज्ञान हो जाना ।।

विवेचन—देवदत्त के समान दूसरे व्यक्ति को देखकर 'यह वही देवदत्त है' ऐसा ज्ञान होना प्रत्यभिज्ञानाभास है । तात्पर्य यह है कि सदृशता में एकता की प्रतीति होना एकत्वप्रत्यभिज्ञानाभास है और एकता में सदृशता प्रतीत होना सादृश्यप्रत्यभिज्ञानाभास है ।

तर्काभास

असत्यामपि व्याप्तौ तदवभासस्तर्काभासः ।। ३५ ।।

स श्यामो मैत्रतनयत्वादित्यत्र यावान्मैत्रतनयः स श्याम इति ।। ३६ ।।

अर्थ—व्याप्ति न होने पर भी व्याप्ति का आभास होना तर्काभास है ।

जैसे—वह व्यक्ति काला है, क्योंकि मैत्र का पुत्र है; यहाँ पर 'जो जो मैत्र का पुत्र होता है वह काला होता है' ऐसी व्याप्ति मालूम होना ।।

विवेचन—व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते है, पर जहाँ वास्तव में व्याप्ति न हो वहाँ व्याप्ति की प्रतीति होना तर्काभास है । जैसे—

'मैत्र के पुत्र' हेतु के साथ कालेपन की व्याप्ति नहीं है फिर भी व्याप्ति प्रतीति हुई अतः यह मिथ्या व्याप्ति-ज्ञान तर्काभास है।

अनुमानाभास

पक्षाभासादिसमुत्थं ज्ञानमनुमानाभासम् ॥ ३७ ॥

अर्थ—पक्षाभास आदि से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुमानाभास है॥

विवेचन—पक्ष, हेतु दृष्टान्त, उपनय और निगमन, अनुमान के अवयव हैं। इन पाँचो अवयवो में से किसी एक के मिथ्या होने पर अनुमानाभास हो जाता है। अतएव यहाँ पाँचों अवयवों के आभास आगे बताये जायेंगे। इन सब आभासों को ही अनुमानाभास समझना चाहिये।

पक्षाभास

तत्र प्रतीतनिराकृतानभीप्सितसाध्यधर्मविशेषणास्त्रयः पक्षाभासाः ॥ ३८ ॥

अर्थ—पक्षाभास तीन प्रकार का है। (१) प्रतीतसाध्यधर्मविशेषण (२) निराकृत साध्यधर्मविशेषण (३) अनभीप्सित साध्यधर्मविशेषण-पक्षाभास।

विवेचन—साध्य को अप्रतीत, अनिराकृत और अभीप्सित बताया है; उससे विरुद्ध साध्य जिस पक्ष में बताया जाय वह पक्षाभास है।

प्रतीतसाध्यधर्म विशेषण पक्षाभास

प्रतीतसाध्यधर्मविशेषणो यथा—आर्हतान्प्रति अवधारण-वर्ज्यं परेण प्रयुज्यमानः समस्ति जीव इत्यादिः ॥ ३९ ॥

अर्थ – जैनों के प्रति अवधारण (एव-ही) के बिना 'जीव है' इस प्रकार कहना प्रतीतसाध्यधर्मविशेषण पक्षाभास है।

विवेचन—'जीव है' यहाँ जीव पक्ष है और 'है' साध्य है। यह साध्य जैनों को प्रतीत सिद्ध है। अतः इस पक्ष का साध्य-धर्म रूप विशेषणपक्षाभास होगया। यदि इस पक्ष में 'एव-ही' का प्रयोग किया गया होता तो यह साध्य अप्रतीत होता क्योंकि जैन जीव में एकान्त अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, किन्तु पर-रूप से नास्तित्व भी मानते हैं।

निराकृत साध्यधर्मविशेषण पक्षाभास के भेद

निराकृतसाध्यधर्मविशेषणः प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनादिभिः साध्यधर्मस्य निराकरणादनेकप्रकारः ॥४०॥

अर्थ—निराकृत साध्यधर्मविशेषण पक्षाभास, प्रत्यक्ष निराकृत, अनुमाननिराकृत, आगमनिराकृत, लोकनिराकृत और स्ववचन-निराकृत आदि के भेद से अनेक प्रकार का है।

प्रत्यक्षनिराकृत

प्रत्यक्षनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा—नास्ति भूत-विलक्षण आत्मा ॥ ४१ ॥

अर्थ—'पाँच भूतों से भिन्न आत्मा नहीं है' यह प्रत्यक्षनिराकृतसाध्यधर्मविशेषण पक्षाभास है।

विवेचन—पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच भूतों से भिन्न आत्मा का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अनुभव होता है, अतः 'भूतों से भिन्न आत्मा नहीं है' यह पक्ष प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है।

अनुमाननिराकृत

अनुमाननिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा-नास्ति सर्वज्ञो वीतरागो वा ॥ ४२ ॥

अर्थ—'सर्वज्ञ अथवा वीतराग नहीं है' यह अनुमाननिराकृतसाध्यधर्मविशेषणपक्षाभास है।

विवेचन—अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ और वीतराग की सत्ता सिद्ध है, अतः 'सर्वज्ञ या वीतराग नहीं है' यह प्रतिज्ञा अनुमान से बाधित है।

आगमनिराकृत

आगमनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा-जैनैः रजनिभोजनं भजनीयम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—'जैनों को रात्रि-भोजन करना चाहिये' यह आगमनिराकृत-साध्यधर्मविशेषण पक्षाभास है।

विवेचन—जैन आगमों में रात्रिभोजन का निषेध किया गया है। कहा है—

अत्थंगयम्मि आइच्चे पुरत्था य अणुग्गए ।
आहारमाइयं सव्वं मणसा वि ण पत्थए ॥

अर्थात् सूर्य अस्त होजाने पर और पूर्व दिशा में उदित होने से पहले सब प्रकार के आहार आदि की मन में इच्छा भी न करे।

रात्रि-भोजन का निषेध करने वाले इस आगम से 'जैनों को रात्रि में भोजन करना चाहिए' यह प्रतिज्ञा बाधित होजाती है।

लोकनिराकृत

लोकनिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा–न पारमार्थिकः प्रमाणप्रमेयव्यवहारः ॥ ४४ ॥

अर्थ 'प्रमाण और प्रमाण से प्रतीत होने वाले घट-पट आदि पदार्थ काल्पनिक हैं' यह लोकनिराकृतसाध्यधर्मविशेषण पक्षाभास है।

विवेचन—लोक में प्रमाण द्वारा प्रतीत होने वाले सब पदार्थ सच्चे माने जाते हैं और ज्ञान भी वास्तविक माना जाता है, अतएव उनकी काल्पनिकता लोक-प्रतीति से बाधित होने के कारण यह प्रतिज्ञा लोकबाधित है।

स्ववचनबाधित

स्ववचननिराकृतसाध्यधर्मविशेषणो यथा–नास्ति प्रमेय-परिच्छेदकं प्रमाणम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—'प्रमाण, प्रमेय को नहीं जानता' यह स्ववचन निराकृत साध्यधर्मविशेषण पक्षाभास है।

विवेचन—प्रमाण, प्रमेय (घट आदि) को नहीं जानता, ऐसा कहने वाले से पूछना चाहिए—तुम प्रमाण को जानते या नहीं ? यदि नहीं जानते तो कैसे कहते हो कि प्रमाण,प्रमेय को नहीं जानता ? अगर जानते हो तो तुम्हारा ज्ञान प्रमाण है या नहीं ? नहीं है तो तुम्हारा कथन कोई स्वीकार नहीं कर सकता। यदि तुम्हारा ज्ञान प्रमाण है तो उसने प्रमाण सामान्य रूप प्रमेय को जाना है, यह बात तुम्हारे ही कथन से सिद्ध हो जाती है। अतएव 'प्रमाण, प्रमेय को नहीं जानता' यह प्रतिज्ञा स्ववचन बाधित है।

'मेरी माता वन्ध्या है', 'मैं आजीवन मौनी हूँ,' इत्यादि अनेक स्ववचन बाधित के उदाहरण समझ लेना चाहिए।

अनभीप्सितसाध्यधर्मविशेषण पक्षाभास

अनभीप्सितसाध्यधर्मविशेषणो यथा—स्याद्वादिनः शाश्वतिक एव कलशादिरशाश्वतिक एव वेति वदतः ॥ ४६ ॥

अर्थ—घट एकान्त नित्य है अथवा एकान्त अनित्य है, ऐसा बोलने वाले जैन का पक्ष अनभीप्सित साध्य-धर्म-विशेषण पक्षाभास होगा।

विवेचन—जिस पक्ष का साध्य वादी को स्वयं इष्ट न हो, वह अनभीप्सित सा० ध० वि० पक्षाभास कहलाता है। जैन अनेकान्तवादी हैं। वे घट को एकान्त नित्य या एकान्त अनित्य नहीं मानते। फिर भी अगर कोई जैन ऐसा पक्ष बोले तो वह अनभीप्सित सा० ध० वि० पक्षाभास होगा।

हेत्वाभास के भेद

असिद्धविरुद्धानैकान्तिकास्त्रयो हेत्वाभासाः ॥४७॥

अर्थ—हेत्वाभास तीन हैं—(१) असिद्ध हेत्वाभास (२) विरुद्ध-हेत्वाभास (३) अनैकान्तिक हेत्वाभास।

विवेचन—जिसमें हेतु का लक्षण न हो फिर भी जो हेतु सरीखा प्रतीत होता हो वह हेत्वाभास है। उसके उपर्युक्त तीन भेद हैं।

असिद्ध हेत्वाभास

यस्यान्यथानुपपत्तिः प्रमाणेन न प्रतीयते सोऽसिद्धः ॥४८

स द्विविध उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धश्च ॥ ४९ ॥

उभयासिद्धो यथा—परिणामी शब्दः चाक्षुषत्वात् ॥५०॥

अन्यतरासिद्धो यथा—अचेतनास्तरवः, विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणरहितत्वात् ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिसकी व्याप्ति प्रमाण से निश्चित न हो उसे असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं ॥

वह दो प्रकार का है—उभयासिद्ध और अन्यतरासिद्ध ॥

'शब्द परिणामी है, क्योंकि चाक्षुष है,' यहाँ चाक्षुषत्व हेतु उभयासिद्ध है।

'वृक्ष अचेतन हैं, क्योंकि वे ज्ञान, इन्द्रिय और आयु की समाप्ति रूप मृत्यु से रहित हैं' यहाँ अन्यतरासिद्ध हेतु है।

विवेचन—जो हेतु वादी को प्रतिवादी को अथवा दोनों को सिद्ध नहीं होता वह असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है। जो दोनों को सिद्ध न हो वह उभयासिद्ध होता है। जैसे यहाँ शब्द का चाक्षुषत्व

दोनों को सिद्ध नहीं है; क्योंकि शब्द आँख से नहीं दीखता बल्कि कान से सुनाई देता है।

वृक्ष अचेतन हैं, क्योंकि वे ज्ञान, इन्द्रिय और मरण से रहित हैं, यहाँ 'ज्ञान-इन्द्रिय और मरण से रहित हैं,' यह हेतु वादी बौद्ध को सिद्ध है किन्तु प्रतिवादी जैन को सिद्ध नहीं है। क्योंकि जैन लोग वृक्षों में ज्ञान, इन्द्रिय और मरण का होना स्वीकार करते हैं। अतः केवल प्रतिवादी को असिद्ध होने के कारण यह हेतु अन्यतरासिद्ध है।

विरुद्ध हेत्वाभास

साध्यविपर्ययेणैव यस्यान्यथानुपपत्तिरध्यवसीयते स विरुद्धः ॥ ५२ ॥

यथा नित्य एव पुरुषोऽनित्य एव वा, प्रत्यभिज्ञानादिमत्त्वात् ॥ ५३ ॥

अर्थ—साध्य से विपरीत के पदार्थ साथ जिसकी व्याप्ति निश्चित हो वह विरुद्ध हेत्वाभास कहलाता है ॥

जैसे—पुरुष सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य ही है, क्योंकि वह प्रत्यभिज्ञान आदि वाला है ॥

विवेचन—यहाँ सर्वथा नित्यता अथवा सर्वथा अनित्यता साध्य है इस साध्य से विपरीत कथंचित् अनित्यता है। और कथंचित् नित्यता अथवा कथंचित् अनित्यता के साथ ही 'प्रत्यभिज्ञान आदि वाले' हेतु की व्याप्ति निश्चित है। अर्थात् जो सर्वथा

नित्यता और सर्वथा अनित्यता से विरुद्ध कथंचित् नित्य होना है वही प्रत्यभिज्ञानवान् होता है। अतः यह विरुद्ध हेत्वाभास है।

अनैकान्तिक हेत्वाभास

यस्यान्यथानुपपत्तिः सन्दिह्यते सोऽनैकान्तिकः ॥५४॥

स द्वेधा निर्णीतविपक्षवृत्तिकः सन्दिग्धविपक्षवृत्तिकश्च ।५५।

निर्णीतविपक्षवृत्तिको यथा–नित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् ।५६।

संदिग्धविपक्षवृत्तिको यथा–विवादापन्नः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वात् ॥५७॥

अर्थ—जिस हेतु की अन्यथानुपपत्ति (व्याप्ति) में सन्देह हो वह अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है ॥

अनैकान्तिक हेत्वाभास दो प्रकार का है—निर्णीतविपक्ष-वृत्तिक और संदिग्ध विपक्षवृत्तिक।

शब्द नित्य है क्योंकि वह प्रमेय है, यहाँ प्रमेयत्व हेतु निर्णीतविपक्षवृत्तिक है।

विवादग्रस्त पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वक्ता है; यहाँ वक्तृत्व हेतु संदिग्ध विपक्ष वृत्तिक है।

विवेचन—जहाँ साध्य का अभाव हो वह विपक्ष कहलाता है। और विपक्ष मे जो हेतु रहता हो वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है। जिस हेतु का विपक्ष में रहना निश्चित हो वह निर्णीतविपक्षवृत्तिक है और जिस हेतु का विपक्ष में रहना संदिग्ध हो वह संदिग्धविपक्ष-वृत्तिक अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है।

शब्द नित्य है, क्योंकि प्रमेय है; यहाँ नित्यता साध्य है। इस साध्य का अभाव घट आदि अनित्य पदार्थों में पाया जाता है अतः घट आदि विपक्ष हुए और उनमें प्रमेयत्व (हेतु) निश्चित रूप से रहता है (क्योंकि घट आदि भी प्रमेय-प्रमाण के विषय-हैं) इसलिए प्रमेयत्व हेतु निर्णीतविपक्षवृत्तिक अनैकान्तिक हेत्वाभास हुआ।

विवादग्रस्त पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वक्ता है, यहाँ सर्वज्ञता का अभाव साध्य है। इस साध्य का अभाव सर्वज्ञ में पाया जाता है अतः सर्वज्ञ विपक्ष हुआ। उस विपक्ष सर्वज्ञ में वक्तृत्व रह सकता है, अतः यह हेतु संदिग्धविपक्षवृत्तिक अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

विरुद्ध हेत्वाभास विपक्ष में ही रहता है और अनैकान्तिक हेत्वाभास पक्ष, सपक्ष, और विपक्ष तीनों में रहता है। अनैकान्तिक को व्यभिचारी हेतु भी कहते हैं।

दृष्टान्ताभास

साधर्म्येण दृष्टान्ताभासो नवप्रकारः ॥ ५८ ॥

साध्यधर्मविकलः, साधनधर्मविकलः, उभयधर्मविकलः, संदिग्धसाध्यधर्मा, संदिग्धसाधनधर्मा, संदिग्धोभयधर्मा, अनन्वयो, ऽप्रदर्शितान्वयो, विपरीतान्वयश्चेति ॥ ५६ ॥

अर्थ—साधर्म्य दृष्टान्ताभास के नौ भेद हैं॥

(१) साध्यधर्म विकल (२) साधनधर्मविकल (३) उभयधर्मविकल (४) संदिग्धसाध्यधर्म (५) संदिग्धसाधनधर्म (६) संदिग्धउभयधर्म (७) अनन्वय (८) अप्रदर्शितान्वय और (६) विपरीतान्वय॥

विवेचन—साधर्म्य दृष्टान्त में साध्य और साधन का निश्चित रूप से अस्तित्व होना चाहिए। जिस दृष्टान्त में साध्य का, साधन का, या दोनों का अस्तित्व न हो, या अस्तित्व अनिश्चित हो अथवा साधर्म्य दृष्टान्त का ठीक तरह प्रयोग न किया गया हो वह साधर्म्य दृष्टान्ताभास कहलाता है।

(१) साध्य-विकलदृष्टान्ताभास

तत्रापौरुषेयः शब्दोऽमूर्त्तत्वात्, दुःखवदिति साध्यधर्मविकलः ॥ ६० ॥

अर्थ—शब्द अपौरुषेय है, क्योंकि अमूर्त्त है, जैसे दुःख। यहाँ दुःख उदाहरण साध्यविकल है क्योंकि उसमें अपौरुषेयत्व साध्य नहीं रहता ॥

(२) साधनधर्मविकल दृष्टान्ताभास

तस्यामेव प्रतिज्ञायां तस्मिन्नेव हेतौ परमाणुवदिति साधनधर्मविकलः ॥६१॥

अर्थ—इसी प्रतिज्ञा मे और इसी हेतु में 'परमाणु' का उदाहरण साधनविकल है।

विवेचन—शब्द अपौरुषेय है क्योंकि अमूर्त्त है, जैसे परमाणु; यहाँ परमाणु में अमूर्तता हेतु नहीं पाया जाता, क्योंकि परमाणु मूर्त्त है। अतः यह साधनविकल दृष्टान्ताभास हुआ।

(३) उभयधर्मविकल दृष्टान्ताभास

कलशवदित्युभयधर्मविकलः ॥ ६२ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त अनुमान में कलश का उदाहरण देना उभय-विकल है।

विवेचन—कलश पुरुषकृत और मूर्त्त है अतः उसमें अपौरुषेयत्व साध्य और अमूर्त्तत्व हेतु दोनों नहीं हैं।

(४) संदिग्धसाध्यधर्म दृष्टान्ताभास

रागादिमानयं वक्तृत्वात्, देवदत्तवदिति संदिग्ध-साध्यधर्मा ॥ ६३ ॥

अर्थ—यह पुरुष राग आदि वाला है, क्योंकि वक्ता है, जैसे देवदत्त। यहाँ देवदत्त दृष्टान्त संदिग्धसाध्यधर्म है।

विवेचन—जिस दृष्टान्त मे साध्य का रहना संदिग्ध हो वह दृष्टान्त संदिग्धसाध्यधर्म कहलाता है। देवदत्त मे राग आदिक साध्य के रहने में संदेह है अतः देवदत्त दृष्टान्त संदिग्धसाध्यधर्म है।

(५) संदिग्धसाधनधर्म दृष्टान्ताभास

मरणधर्माऽयं रागादिमत्वान्मैत्रवदिति संदिग्धसाधन-धर्मा ॥ ६४ ॥

अर्थ—'यह पुरुष मरणशील है' क्योंकि रागादिवाला है, जैसे मैत्र। यहाँ मैत्र दृष्टान्त संदिग्धसाधनधर्म है।

विवेचन—मैत्र नामक पुरुष में रागादित्व हेतु के रहने में सन्देह है, अतः मैत्र उदाहरण संदिग्धसाधनधर्मदृष्टान्ताभास है।

(६) संदिग्धउभयधर्मदृष्टान्ताभास

नायं सर्वदर्शी रागादिमत्त्वान्मुनिविशेषवदित्युभयधर्मा।६५।

अर्थ—यह पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि रागादि वाला है, जैसे अमुक मुनि। यह संदिग्ध-उभय दृष्टान्ताभास है। क्योंकि अमुक मुनि में सर्वज्ञता का अभाव और रागादिमत्व दोनों का ही संदेह है।

(७) अनन्वय दृष्टान्ताभास

रागादिमान् विवक्षितः पुरुषो वक्तृत्वादिष्टपुरुषवदित्यनन्वयः ॥ ६६ ॥

अर्थ—विवक्षित पुरुष रागादि वाला है, क्योंकि वक्ता है, जैसे कोई इष्ट पुरुष।

विवेचन—जिस दृष्टान्त में अन्वय व्याप्ति न बन सके उसे अनन्वय दृष्टान्ताभास कहते हैं। यहाँ इष्ट पुरुष में रागादिमत्व और वक्तृत्व-दोनों मौजूद रहने पर भी जो जो 'वक्ता होता है वह वह रागादि वाला होता है' ऐसी अन्वय व्याप्ति नहीं बनती। क्योंकि अर्हन्त भगवान वक्ता हैं पर रागादि वाले नहीं हैं। अतः 'इष्ट पुरुष' यह दृष्टान्त अनन्वय दृष्टान्ताभास है।

(८) अप्रदर्शितान्वय दृष्टान्ताभास

अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, घटवदित्यप्रदर्शितान्वयः।६७।

अर्थ—शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है, जैसे घट। यहाँ घट दृष्टान्त अप्रदर्शितान्वय दृष्टान्ताभास है।

विवेचन—जिस दृष्टान्त में अन्वयव्याप्ति तो हो किन्तु वादी ने वचन द्वारा उसका कथन न किया हो, उसे अप्रदर्शितान्वय दृष्टान्ताभास कहते हैं। यहाँ घट मे अनित्यता और कृतकता भी है, मगर अन्वय प्रदर्शित न करने के कारण ही यह दोष है।

(१) विपरीतान्वय दृष्टान्ताभास

अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यदनित्यं तत्कृतकं, घटवदितिविपरीतान्वयः ॥ ६८ ॥

अर्थ—शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतक है; जो अनित्य होता है, वह कृतक होता है; जैसे घट। यह विपरीतान्वय दृष्टान्ताभास है।

विवेचन—अन्वय व्याप्ति मे साधन होने पर साध्य का होना बताया जाता है, पर यहाँ साध्य के होने पर साधन का होना बताया गया है, इसलिए यह विपरीत अन्वय हुआ। यह विपरीत अन्वय घट दृष्टान्त मे बताया गया है अतः घट दृष्टान्त विपरीतान्वय दृष्टान्ताभास है।

वैधर्म्य दृष्टान्ताभास

वैधर्म्येणापि दृष्टान्ताभासो नवधा ॥ ६९ ॥

असिद्धसाध्यव्यतिरेको, ऽसिद्धसाधनव्यतिरेको ऽसिद्धोभयव्यतिरेकः, संदिग्धसाध्यव्यतिरेकः संदिग्ध साधनव्यतिरेकः, संदिग्धोभयव्यतिरेको, ऽव्यतिरेको, ऽप्रदर्शितव्यतिरेको, विपरीतव्यतिरेकश्च ॥ ७० ॥

अर्थ—वैधर्म्य दृष्टान्ताभास नौ प्रकार का है।

(१) असिद्धसाध्यव्यतिरेक (२) असिद्धसाधनव्यतिरेक (३) असिद्ध उभयव्यतिरेक (४) संदिग्धसाध्यव्यतिरेक (५) संदिग्ध साधनव्यतिरेक (६) संदिग्धोभयव्यतिरेक (७) अव्यतिरेक (८) अप्रदर्शिनव्यतिरेक (९) विपरीतव्यतिरेक ॥

विवेचन—वैधर्म्य दृष्टान्त मे निश्चित रूप से साध्य और साधन का अभाव दिखाना पड़ता है। जिस दृष्टान्त मे साध्य का, साधन का या दोनों का अभाव न हो या अभाव संदिग्ध हो अथवा अभाव ठीक तरह बताया न गया हो वह वैधर्म्य दृष्टान्ताभास कहलाता है। उसके भी नौ भेद हैं।

(१) असिद्धसाध्यव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

तेषु भ्रान्तमनुमानं प्रमाणत्वात्, यत्पुनर्भ्रान्तं न भवति न तत् प्रमाणं यथा स्वप्नज्ञानमिति–असिद्धसाध्यव्यतिरेकः, स्वप्नज्ञानाद् भ्रान्तत्वस्यानिवृत्तिः ॥ ७१ ॥

अर्थ—अनुमान भ्रान्त है क्योंकि वह प्रमाण है, जो भ्रान्त नहीं होता वह प्रमाण भी नहीं होता, जैसे स्वप्नज्ञान। यहाँ 'स्वप्नज्ञान' यह उदाहरण असिद्ध-साध्य व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है, क्योंकि स्वप्नज्ञान में भ्रान्तता (साध्य) का अभाव नहीं है।

(२) असिद्धसाधनव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

निर्विकल्पकं प्रत्यक्षं प्रमाणत्वात्, यत्तु सविकल्पकं न तत्प्रमाणं यथा लैङ्गिकमित्यसिद्धसाधनव्यतिरेको, लैङ्गिकात् प्रमाणत्वस्यानिवृत्तेः ॥ ७२ ॥

अर्थ—प्रत्यक्ष निर्विकल्पक (अनिश्चयात्मक) है, क्योंकि वह प्रमाण है। जो निर्विकल्पक नहीं होता वह प्रमाण नहीं होता जैसे अनुमान। यहाँ 'अनुमान' दृष्टान्त असिद्धसाधनव्यतिरेक दृष्टान्ताभास है क्योंकि उसमें 'प्रमाणत्व' (हेतु) का अभाव नहीं है—अर्थात् अनुमान प्रमाण है।

(३) असिद्ध-उभयव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

नित्यानित्यः शब्दः सत्त्वात्, यस्तु न नित्यानित्यः स न संस्तद्यथास्तम्भः इत्यसिद्धोभयव्यतिरेकः स्तम्भान्नित्यानित्यत्वस्य सत्त्वस्य चाव्यावृत्तेः ॥ ७३ ॥

अर्थ—शब्द नित्य-अनित्य रूप है क्योंकि सत् है, जो नित्य-अनित्य नहीं होता वह सत् नहीं होता जैसे स्तम्भ। यहाँ स्तम्भ दृष्टान्त असिद्ध-उभयव्यतिरेक दृष्टान्ताभास है, क्योंकि स्तम्भ में नित्यानित्यता (साध्य) और सत्त्व (साधन) दोनों का अभाव नहीं है अर्थात् स्तम्भ नित्यानित्य भी है और सत् भी है।

(४) संदिग्ध साध्यव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

असर्वज्ञोऽनाप्तो वा कपिलोऽक्षणिकैकान्तवादित्वात्; यः सर्वज्ञ आप्तो वा स क्षणिकैकान्तवादी यथा सुगतः, इति संदिग्धसाध्यव्यतिरेकः सुगते ॥ ७४ ॥

अर्थ—कपिल सर्वज्ञ अथवा आप्त नहीं हैं क्योंकि वह एकान्त-नित्यवादी हैं जो सर्वज्ञ अथवा आप्त होता है वह एकान्त क्षणिकवादी होता है, जैसे सुगत (बुद्ध)। यहाँ 'सुगत' दृष्टान्त संदिग्धसाध्य-व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है, क्योंकि सुगत में असर्वज्ञता अथवा अना-

प्तता (माध्य) के अभाव में सन्देह है अर्थात् सुगत में न असर्वज्ञता का अभाव निश्चित है और न अनाप्तता का अभाव निश्चित है।

(५) असिद्धसाधनव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

अनादेयवचनः कश्चिद्विवक्षितः पुरुषो रागादिमत्त्वात् यः पुनरादेयवचनः स वीतरागस्तद्यथा शुद्धोदनिरिति संदिग्धसाधनव्यतिरेकः, शौद्धोदनौ रागादिमत्त्वस्य निवृत्तेः संशयात् ॥ ७५ ॥

अर्थ—कोई विवक्षित पुरुष अग्राह्य वचन वाला है, क्योंकि वह रागादि वाला है, जो ग्राह्य वचन वाला होता है वह वीतराग होता है; जैसे बुद्ध। यहाँ 'बुद्ध' दृष्टान्त संदिग्धसाधनव्यतिरेक है है क्योंकि बुद्ध मे रागादिमत्व (साधन) के अभाव में संदेह।

(६) संदिग्ध-उभयव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

न वीतरागः कपिलः करुणास्पदेष्वपि परमकृपयाऽनर्पितनिजपिशितशकलत्वात्, यस्तु वीतरागः स करुणास्पदेषु परमकृपया समर्पितनिजपिशितशकलस्तद्यथा तपनबन्धुरिति संदिग्धोभयव्यतिरेकः; तपनबन्धौ वीतरागत्वाभावस्य करुणास्पदेष्वपि परमकृपया समर्पितनिजपिशितशकलत्वस्य च व्यावृत्तेः संशयात् ॥ ७६ ॥

अर्थ—कपिल वीतराग नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने दया-पात्र व्यक्तियों को भी परम कृपा से प्रेरित होकर अपने शरीर के मांस

के टुकड़े नहीं दिये है; जो वीतराग होता है वह दयापात्र व्यक्तियों को परम कृपा से प्रेरित होकर अपने शरीर के मांस के टुकड़े दे देता है, जैसे बुद्ध। यहाँ बुद्ध दृष्टान्त संदिग्ध-उभय व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है, क्योंकि बुद्ध में तो वीतरागता के अभाव की (साध्य की) व्यावृत्ति है और न दयापात्र-व्यक्तियों को मांस के टुकड़े न देने रूप साधन की ही व्यावृत्ति है। अर्थात् यहाँ दृष्टान्त में साध्य और साधन की ही व्यावृत्ति है। अर्थात् यहाँ दृष्टान्त में साध्य और साधन दोनों के अभाव का निश्चय नहीं है।

(७) अव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

न वीतरागः कश्चित् विवक्षितः पुरुषो वक्तृत्वात् यः पुनर्वीतरागो न स वक्ता यथोपलखण्ड इत्यव्यतिरेकः ॥७७॥

अर्थ—कोई विवक्षित पुरुष वीतराग नहीं है क्योंकि वह वक्ता है; जो वीतराग होता है वह वक्ता नहीं होता, जैसे 'पत्थर का टुकड़ा' दृष्टान्त अव्यतिरेक दृष्टान्ताभास है, क्योंकि यहाँ जो व्यतिरेक व्याप्ति बताई गई है, वह ठीक नहीं है।

(८) अप्रदर्शित व्यतिरेक दृष्टान्ताभास

अनित्यः शब्दः कृतकत्वादाकाशवदित्यप्रदर्शितव्यतिरेकः ॥ ७८ ॥

अर्थ—शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है, जैसे आकाश। यहाँ आकाश दृष्टान्त अप्रदर्शितव्यतिरेक दृष्टान्ताभास है, क्योंकि इस दृष्टान्त मे व्यतिरेक व्याप्ति नहीं बताई गई है।

(१) विपरीतव्यतिरेक दृष्टान्ताभास

अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्, यत्कृतकं तन्नित्यं यथा-ऽऽकाशम्, इति विपरीतव्यतिरेकः ॥ ७९ ॥

अर्थ—शब्द अनित्य है क्योंकि कृतक है। जो कृतक होता है वह नित्य होता है, जैसे आकाश। यहाँ आकाश दृष्टान्त विपरीत-व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है क्योंकि यहाँ व्यतिरेक व्याप्ति विपरीत बनाई गई है। अर्थात् साध्य के अभाव में साधन का अभाव बताना चाहिए सो साधन के अभाव में साध्य का अभाव बता दिया है।

उपनयाभास और निगमनाभास

उक्तलक्षणोल्लङ्घनेनोपनयनिगमनयोर्वचने तदाभासौ ॥८०॥

यथा परिणामी शब्दः कृतकत्वात्, यः कृतकः स परिणामी यथा कुम्भः, इत्यत्र परिणामी च शब्दः कृतकश्च कुम्भ इति च ॥ ८१ ॥

तस्मिन्नेव प्रयोगे तस्मात् कृतकः शब्द इति, तस्मात् परिणामी कुम्भ इति ॥ ८२ ॥

अर्थ—उपनय और निगमन का पहले जो लक्षण कहा गया है उसका उल्लंघन करके उपनय और निगमन बोलने से उपनयाभास और निगमनाभास हो जाते हैं॥

उपनयाभास का उदाहरण—शब्द परिणामी है, क्योंकि

कृतक है, जो कृतक होता है वह परिणामी होता है जैसे कुम्भ; यहाँ 'शब्द परिणामी है' या 'कुम्भ कृतक है' इस प्रकार कहना ॥

और इसी अनुमान में 'इसलिए शब्द कृतक है' अथवा 'इसलिए घट परिणामी है' ऐसा कहना निगमनाभास है ॥

विवेचन—पक्ष में हेतु का दोहराना उपनय कहलाता है। हेतु को न दोहरा कर किसी और को दोहराना उपनयाभास है। जैसे उक्त उदाहरण 'शब्द परिणामी है' यहाँ पक्ष में साध्य को दोहराया गया है और 'कुम्भ कृतक है' यहाँ पर सपक्ष (दृष्टान्त) में हेतु दोहराया गया है, अतः यह दोनों उपनयाभास है।

पक्ष में साध्य का दोहराना निगमन है। और पक्ष में साध्य को न दोहरा कर, किसी को किसी में दोहरा देना निगमनाभास है। जैसे यहाँ पक्ष (शब्द) में एक जगह कृतकत्व हेतु को दोहरा दिया है और दूसरी जगह सपक्ष (कुम्भ) में साध्य को दोहराया है; 'इस लिए शब्द परिणामी है' ऐसा कहना निगमन होता किन्तु 'इसलिए शब्द कृतक है' 'इसलिए कुम्भ परिणामी है' ऐसा कहना निगमनाभास है।

आगमाभास

अनाप्तवचनप्रभवं ज्ञानमागमाभासम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—अनाप्त पुरुष के वचन से उत्पन्न होने वाला ज्ञान आगमाभास है।

विवेचन—आगम और आप्त का स्वरूप पहले कहा जा चुका है। यथार्थ ज्ञाता और यथार्थवक्ता पुरुष को कहते हैं। जो आप्त न हो वह अनाप्त है। अनाप्त के वचन से होने वाला ज्ञान आगमाभास है।

आगमाभास का उदाहरण

यथामेकलकन्यकायाः कूले, तालहितालयोर्मूले सुलभाः पिण्डखर्जूराः सन्ति, त्वरितं गच्छत गच्छत बालकाः ॥८४॥

अर्थ—जैसे रेवा नदी के किनारे, ताल और हिंताल वृक्षों के नीचे पिंड खजूर पड़े हैं—लड़को ! जाओ, जल्दी जाओ ॥

विवेचन—वास्तव मे रेवा नदी के किनारे पिंडखजूर नहीं हैं, फिर भी कोई व्यक्ति बच्चो को बहकाने के लिए झूठमूठ ऐसा कहता है। इस कथन को सुनकर बच्चों को पिंडखजूर का ज्ञान होना आगमाभास है।

प्रमाण संख्याभास

प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्यानं तस्य संख्याऽऽभासम् ॥ ८५ ॥

अर्थ—एक मात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, इत्यादि प्रमाण की मिथ्या संख्या करना संख्याभास है।

विवेचन—वास्तव मे प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद हैं, यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। इन भेदो से विपरीत एक, दो, तीन, चार आदि भेद मानना संख्याभास या भेदाभास है। कौन कितने प्रमाण मानते हैं यह भी पहले ही बताया जा चुका है।

विषयाभास

सामान्यमेव, विशेष एव, तद् द्वयं वा स्वतन्त्रमित्यादिस्तस्य विषयाभासः ॥ ८६ ॥

अर्थ—सामान्य ही प्रमाण का विषय है, विशेष ही प्रमाण का विषय है, अथवा परस्पर सर्वथा भिन्न सामान्य-विशेष प्रमाण के विषय हैं, इत्यादि मानना प्रमाण का विषयाभास है।

विवेचन—सामान्य और विशेष अलग पदार्थ नहीं हैं। यह दोनों पदार्थ के धर्म हैं और पदार्थ से कथंचित् अभिन्न हैं। आपस में भी दोनों कथंचित् अभिन्न हैं। अतः सामान्य-विशेष रूप वस्तु को ही प्रमाण का विषय कहा गया है। उससे विपरीत वेदान्तियों का माना हुआ केवल सामान्य, बौद्धों का माना हुआ केवल विशेष और योगों के माने हुए सर्वथा भिन्न सामान्य-विशेष, यह सब विषयाभास हैं।

फलाभास

अभिन्नमेव भिन्नमेव वा प्रमाणात् फलं तस्य तदाभासम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—प्रमाण से सर्वथा अभिन्न या सर्वथा भिन्न प्रमाण का फल फलाभास है।

विवेचन—बौद्ध प्रमाण का फल प्रमाण से सर्वथा अभिन्न मानते हैं और नैयायिक सर्वथा भिन्न मानते हैं। वस्तुतः यह सब फलाभास है; क्योंकि फल तो प्रमाण से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होता है।

सातवाँ परिच्छेद

नयों का विवेचन

नय का स्वरूप

नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्यांशस्तदितरांशौदासीन्यतः स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नयः ॥ १ ॥

अर्थ - श्रुतज्ञान द्वारा जाने हुए पदार्थ का एक धर्म, अन्य धर्मों को गौण करके, जिस अभिप्राय से जाना जाता है, वक्ता का यह अभिप्राय नय कहलाता है।

विवेचन—श्रुतज्ञान रूप प्रमाण अनन्त धर्म वाली वस्तु को ग्रहण करता है। उन अनन्त धर्मों में से किसी एक धर्म को जानने वाला ज्ञान नय कहलाता है। नय जब वस्तु के एक धर्म को जानता है तब शेष रहे हुए धर्म भी वस्तु में विद्यमान तो रहते ही हैं किन्तु उन्हें गौण कर दिया जाता है। इस प्रकार सिर्फ एक धर्म को मुख्य करके उसे जानने वाला ज्ञान नय है।

नयाभास का स्वरूप

स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापी पुनर्नयाभासः ॥ २ ॥

अर्थ—अपने अभीष्ट अंश के अतिरिक्त अन्य अंशों का अपलाप करने वाला नयाभास है।

विवेचन—वस्तु के अनन्त अंशों (धर्मों) में से एक अंश को ग्रहण करके शेष समस्त अंशों का अभाव मानने वाला नय ही नयाभास है। तात्पर्य यह है कि नय एक अंश को ग्रहण करता है पर अन्य अंशों पर उपेक्षा भाव रखता है और नयाभास उन अंशों का निषेध करता है। यही नय और नयाभास में अन्तर है।

नय के भेद

स व्याससमासाभ्यां द्विप्रकारः ॥ ३ ॥

व्यासतोऽनेकविकल्पः ॥ ४ ॥

समासतस्तु द्विभेदो द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च ॥ ५ ॥

अर्थ—नय दो प्रकार का है—व्यासनय और समासनय ॥

व्यासनय अनेक प्रकार का है ॥

समासनय दो प्रकार का है—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय ॥

विवेचन—विस्तार रूप नय व्यासनय कहलाता है और संक्षेप रूप नय समास नय कहलाता है। नय के यदि विस्तार से भेद किए जाएँ तो वह अनन्त होंगे, क्योंकि 'वस्तु में' अनन्त धर्म हैं और एक-एक धर्म को जानने वाला एक-एक नय होता है। अतएव व्यास-नय के भेदों की संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती।

समासनय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेद से दो प्रकार का है। द्रव्य को मुख्य रूप से विषय करने वाला द्रव्यार्थिक और पर्याय को मुख्यरूप से विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय है।

द्रव्यार्थिक नय के भेद

आद्यो नैगमसंग्रहव्यवहारभेदात् त्रेधा ॥ ६ ॥

अर्थ—द्रव्यार्थिक नय तीन प्रकार का है—(१) नैगम नय (२) संग्रह नय और (३) व्यवहार नय।

नैगमनय

धर्मयोर्धर्मिणोर्धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षणं स नैकगमो नैगमः ॥ ७ ॥

सच्चैतन्यमात्मनीति धर्मयोः ॥ ८ ॥

वस्तु पर्यायवद्द्रव्यमिति धर्मिणोः ॥ ९ ॥

क्षणमेकं सुखी विषयासक्तजीव इति धर्मधर्मिणो॥१०॥

अर्थ—दो धर्मों की, दो धर्मियों की और धर्म-धर्मी की प्रधान और गौण रूप से विवक्षा करना, इस प्रकार अनेक मार्गों से वस्तु का बोध कराने वाला नय नैगमनय कहलाता है ॥

दो धर्मों का प्रधान-गौण भाव—जैसे आत्मा में सत्त्व से युक्त चैतन्य है ॥

दो धर्मियों का प्रधान-गौणभाव—जैसे पर्याय वाला द्रव्य वस्तु कहलाता है ॥

धर्म-धर्मी का प्रधान-गौणभाव—जैसे विषयासक्त जीव क्षण भर सुखी होता है ॥

विवेचन—दो धर्मों में से एक धर्म की मुख्य रूप से विवक्षा

करना और दूसरे धर्म की गौण रूप से विवक्षा करना, इसी प्रकार दो द्रव्यों में से एक को मुख्य और दूसरे की गौण रूप से विवक्षा करना. तथा धर्म धर्मी में से किसी को मुख्य और किसी को गौण समझना, नैगमनय है। नैगमनय अनेक प्रकार से वस्तु का बोध कराता है।

सत्व और चैतन्य आत्मा के दो धर्म हैं. किन्तु 'आत्मा में सत्व युक्त चैतन्य है' इस प्रकार कह कर चैतन्य धर्म को मुख्य बनाया गया है और सत्व को चैतन्य का विशेषण बनाकर गौण कर दिया है।

इसी प्रकार द्रव्य और वस्तु दो धर्मी हैं, किन्तु 'पर्याय वाला द्रव्य वस्तु है' ऐसा कह कर द्रव्य को गौण और वस्तु को मुख्य रूप से विवक्षित किया गया है।

इसी प्रकार 'विषयासक्त जीव क्षण भर सुखी है' यहाँ जीव विशेष्य होने के कारण मुख्य है और सुखी विशेषण होने के कारण गौण है।

नैगमाभास का स्वरूप

धर्मद्वयादीनामैकान्तिकपार्थक्याभिसन्धिर्नैगमाभासः ॥११॥

अर्थ—दो धर्मों का, दो धर्मियों का और धर्म तथा धर्मी का एकान्त भेद मानना नैगमनयाभास कहलाता है।

विवेचन—वास्तव में धर्म और धर्मी में कथंचित् भेद है, दो धर्मों में तथा दो धर्मियों में भी आपस में कथंचित् भेद है; इसके बदले उनमें सर्वथा भेद की कल्पना करना नैगमनयाभास है।

नैगमाभास का उदाहरण

यथाऽऽत्मनि सत्त्वचैतन्ये परस्परमत्यन्तं पृथग्भूते इत्यादिः ॥ १२ ॥

अर्थ—जैसे आत्मा में सत्त्व और चैतन्य धर्म परस्पर में सर्वथा भिन्न हैं, इत्यादि मानना।

संग्रहनय का स्वरूप

सामान्यमात्रग्राही परामर्शः संग्रहः ॥ १३ ॥

अयमुभयविकल्पः—परोऽपरश्च ॥ १४ ॥

अर्थ—सिर्फ सामान्य को ग्रहण करने वाला अभिप्राय संग्रह नय है ॥

संग्रहनय के दो भेद हैं—(१) परसंग्रह (२) अपरसंग्रह ॥

विवेचन—विशेष की ओर उदासीनता रख कर सत्तारूप पर सामान्य को और द्रव्यत्व, जीवत्व आदि अपर सामान्य को ही ग्रहण करने वाला नय संग्रहनय कहलाता है। संग्रहनय का विषय सामान्य है और सामान्य पर-अपर के भेद से दो प्रकार का है अतएव संग्रह-नय के भी दो भेद होगये हैं—परसंग्रह और अपरसंग्रह।

परसंग्रहनय

अशेषविशेष्वौदासीन्यं भजमानः शुद्धद्रव्यं सन्मात्रमभि-मन्यमानः परसंग्रहः ॥ १५ ॥

विश्वमेकं सदविशेषादिति यथा ॥ १६ ॥

अर्थ—समस्त विशेषों में उदासीनता रखने वाला और शुद्ध सत्ता मात्र द्रव्य को विषय करने वाला नय पर संग्रहनय कहलाता है।

जैसे—सत्ता सब में पाई जाती है अतः विश्व एक रूप है ॥

विवेचन—पर सामान्य को सत्ता या महासत्ता कहते हैं। उसी को पर संग्रहनय विषय करता है। सत्ता सामान्य की अपेक्षा विश्व एक रूप है; क्योंकि विश्व का कोई भी पदार्थ सत्ता से भिन्न नहीं है।

परसंग्रहाभास

सत्ताद्वैतं स्वीकुर्वाणः सकलविशेषान्निराचक्षाणस्तदाभासः ॥ १७ ॥

सत्तैव तत्त्वं, ततः पृथग्भूतानां विशेषाणामदर्शनात् ॥१८

अर्थ—एकान्त सत्ता मात्र को स्वीकार करने वाला और घट आदि सब विशेषों का निषेध करने वाला अभिप्राय परसंग्रह नयाभास है ॥

जैसे—सत्ता ही वास्तविक वस्तु है, क्योंकि उससे भिन्न घट आदि विशेष दृष्टिगोचर नहीं होते ॥

विवेचन—पर संग्रह नय भी सत्ता मात्र को ही विषय करता है और परसंग्रह नयाभास भी सत्तामात्र को ही विषय करता है किन्तु दोनो में भेद यह है कि परसंग्रह विशेषों का निषेध नहीं करता—उनमें उपेक्षा बतलाता है और परसंग्रहाभास उनका निषेध करता है। इस

प्रकार दूसरे अंश का अपलाप करने से यह नयाभास हो गया है। वेदान्त दर्शन परसंग्रहाभास है क्योंकि वह एकान्त रूप से सत्ता को ही तत्त्व मानता और विशेषों को मिथ्या बतलाता है।

अपर संग्रहनय

द्रव्यत्वादीनि अवान्तरसामान्यानि मन्वानस्तद्भेदेषु-गजनिमीलिकामवलम्बमानः पुनरपरसंग्रहः ॥ १६ ॥

धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्याणामैक्यं द्रव्यत्वा-भेदादित्यादिर्यथा ॥ २० ॥

अर्थ—द्रव्यत्व पर्यायत्व आदि अपर सामान्यों को स्वीकार करने वाला और उन अपर सामान्यों के भेदों में उदासीनता रखने वाला नय अपर संग्रहनय कहलाता है ॥

जैसे—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव द्रव्य सब एक हैं क्योंकि सब में एक द्रव्यत्व विद्यमान है ॥

विवेचन—छहों द्रव्यों में समान रूप से रहने वाला द्रव्यत्व अपर सामान्य है। अपर संग्रह नय, अपर सामान्य को विषय करता है। अतः इसकी दृष्टि में द्रव्यत्व एक होने से सभी द्रव्य एक हैं।

अपरसंग्रहाभास

द्रव्यत्वादिकं प्रतिजानानस्तद्विशेषान्निह्नुवानस्तदाभासः॥
यथा द्रव्यत्वमेव तत्त्वं, ततोऽर्थान्तरभूतानां द्रव्याणामनुप-लब्धेः ॥ २२ ॥

अर्थ—द्रव्यत्व आदि अपरसामान्यों को स्वीकार करने वाला और उनके भेदों का निषेध करने वाला अभिप्राय अपरसंग्रह-नयाभास है।

जैसे—द्रव्यत्व ही वास्तविक है, उससे भिन्न धर्म आदि द्रव्य उपलब्ध नहीं होते ॥

विवेचन—द्रव्यत्व आदि सामान्यों को अपर संग्रहनय स्वीकार करता है पर वह उनके भेदों का-धर्म आदि द्रव्यों का-निषेध नहीं करता; यह अपरसंग्रह नयाभास अपर सामान्य के भेदों का निषेध करता है, इसलिए नयाभास है।

व्यवहारनय

संग्रहेण गोचरीकृतानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं येनाभिसन्धिना क्रियते स व्यवहारः ॥ २३ ॥

यथा यत् सत् तद् द्रव्यं पर्यायो वा ॥ २४ ॥

अर्थ—संग्रह नय के द्वारा जाने हुए सामान्य रूप पदार्थों मे विधिपूर्वक भेद करने वाला नय व्यवहार नय कहलाता है।

जैसे—जो सत् होता है वह या तो द्रव्य होता है या पर्याय ॥

विवेचन—संग्रहनय द्वारा विषय किये हुए सामान्य मे व्यवहार नय भेद करता है। सामान्य से लोक-व्यवहार नहीं होता। लोक-व्यवहार के लिये विशेषों की आवश्यकता होती है। 'गोत्व' सामान्य दुहा नहीं जा सकता और न 'अश्वत्व' सामान्य पर सवारी की जा सकती है। दुहने के लिये गाय-विशेष की आवश्यकता है और सवारी के लिए अश्व-विशेष की अपेक्षा होती है। अतः लोक-व्यवहार के अनु-

कूल, सामान्य में भेद करना व्यवहार नय का कार्य है। उदाहरणार्थ— संग्रहनय ने सत्ता रूप अभेद माना, व्यवहार उसके दो भेद करता है—द्रव्य और पर्याय।

व्यवहारनयाभास

यः पुनरपारमार्थिकद्रव्यपर्यायविभागमभिप्रैति स व्यवहाराभासः ॥ २५ ॥

यथा—चार्वाकदर्शनम् ॥ २६ ॥

अर्थ—जो नय द्रव्य और पर्याय का अवास्तविक भेद स्वीकार करता है वह व्यवहारनयाभास है ॥

जैसे—चार्वाक दर्शन ॥

विवेचन—द्रव्य और पर्याय का वास्तविक भेद मानना व्यवहार नय है और मिथ्या भेद मानना व्यवहारनयाभास है। चार्वाक दर्शन वास्तविक द्रव्य और पर्याय के भेद को स्वीकार नहीं करता किन्तु अवास्तविक भूत-चतुष्टय को स्वीकार करता है। अतः चार्वाक दर्शन (नास्तिक मत) व्यवहार नयाभास है।

पर्यायार्थिकनय के भेद

पर्यायार्थिकश्चतुर्द्धा—ऋजुसूत्रः शब्दः समभिरूढ एवंभूतश्च ॥ २७ ॥

अर्थ—पर्यायार्थिकनय चार प्रकार का है—(१) ऋजुसूत्र (२) शब्द (३) समभिरूढ और (४) एवंभूत।

ऋजुसूत्रनय

ऋजु—वर्त्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूत्रयन्नभिप्रायः ऋजुसूत्रः ॥ २८ ॥

यथा–सुखविवर्त्तः सम्प्रत्यस्तीत्यादि ॥ २६ ॥

अर्थ—पदार्थ की वर्तमान क्षण में रहने वाली पर्याय को ही प्रधान रूप से विषय करने वाला अभिप्राय ऋजुसूत्र नय कहलाता है।

जैसे—इस समय सुख रूप पर्याय है, इत्यादि।

विवेचन—द्रव्य को गौण करके मुख्य रूप से पर्याय को विषय करने वाला नय पर्यायार्थिक नय कहलाता है। ऋजुसूत्र नय भी पर्यायार्थिक नय है अतएव यह पर्याय को ही मुख्य करता है। 'इस समय सुख पर्याय है' इस वाक्य से सुख पर्याय की प्रधानता द्योतित की गई है, सुख पर्याय के आधार भूत द्रव्य-जीव को गौण कर दिया गया है।

ऋजुसूत्रनयाभास

सर्वथा द्रव्यापलापी तदाभासः ॥ ३० ॥

यथा–तथागतमतम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—द्रव्य का एकान्त निषेध करने वाला अभिप्राय ऋजुसूत्र-नयाभास कहलाता है।

जैसे—बौद्धमत।

विवेचन—ऋजुसूत्रनय द्रव्य को गौण करके पर्याय को मुख्य करता है, किन्तु ऋजुसूत्राभास द्रव्य का सर्वथा अपलाप कर देता है। वह पर्यायों को ही वास्तविक मानता है और पर्यायों में अनुगत रूप से रहने वाले द्रव्य का निषेध करता है। बौद्धों का मत—क्षणिकवाद या पर्यायवाद—ऋजुसूत्रनयाभास है।

शब्दनय

कालादिभेदेन ध्वनेरर्थभेदं प्रतिपद्यमानः शब्दः ॥३२॥

यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादिः ॥३३॥

अर्थ—काल आदि के भेद से शब्द के वाच्य अर्थ में भेद मानने वाला नय शब्दनय कहलाता है ॥

जैसे—सुमेरु था, सुमेरु है, और सुमेरु होगा ॥

विवेचन—शब्दनय और आगे के समभिरूढ तथा एवंभूत नय शब्द को प्रधान मानकर उसके वाच्य अर्थ का निरूपण करते हैं इसलिए इन तीनों को शब्दनय कहते हैं।

काल, कारक, लिंग और वचन के भेद से पदार्थ में भेद मानने वाला नय शब्दनय कहलाता है। उदाहरणार्थ—सुमेरु था, सुमेरु है और सुमेरु होगा; इन तीन वाक्यों में एक सुमेरु का त्रिकाल सम्बन्धी अस्तित्व बताया गया है, पर यहाँ काल का भेद है, अतः शब्द नय सुमेरु को तीन रूप स्वीकार करता है।

शब्दनयाभास

तद्भेदेन तस्य तमेव समर्थयमानस्तदाभासः ॥ ३४ ॥

यथा बभूव भवति भविष्यति सुमेरुरित्यादयो भिन्नकालाः शब्दा भिन्नमेवार्थमभिदधति, भिन्नकालशब्दत्वात्, तादृक्सिद्धान्यशब्दवदित्यादि ॥ ३५ ॥

अर्थ—काल आदि के भेद से शब्द के वाच्य पदार्थ में एकांत भेद मानने वाला अभिप्राय शब्दनयाभास है ॥

जैसे—सुमेरु था, सुमेरु है और सुमेरु होगा, इत्यादि भिन्न कालवाचक शब्द सर्वथा भिन्न पदार्थों का कथन करते हैं, क्योंकि वे भिन्न कालवाचक शब्द हैं; जैसे भिन्न पदार्थों का कथन करने वाले दूसरे भिन्नकालीन शब्द अर्थात् अगच्छत, भविष्यति और पठति आदि ॥

विवेचन—काल का भेद होने से पर्याय का भेद होता है फिर भी द्रव्य एक वस्तु बना रहता है। शब्द नय पर्याय-दृष्टि वाला है अतः वह भिन्न-भिन्न पर्यायों को ही स्वीकार करता है, द्रव्य को गौण करके उसकी उपेक्षा करता है। परन्तु शब्दनयाभास विभिन्न कालों में अनुगत रहने वाले द्रव्य का सर्वथा निषेध करता है। इसीलिए यह नयाभास है।

समभिरूढ नय

पर्यायशब्देषु निरुक्तिभेदेन भिन्नमर्थं समभिरोहन् समभिरूढः ॥ ३६ ॥

इन्दनादिन्द्रः, शकनाच्छक्रः, पूर्दारणाद् पुरन्दर इत्यादिषु यथा ॥ ३७ ॥

अर्थ—पर्यायवाचक शब्दो मे निरुक्ति के भेद से अर्थ का भेद मानने वाला समभिरूढ़ नय कहलाता है ॥

जैसे—ऐश्वर्य भोगने वाला इन्द्र है, सामर्थ्य वाला शक्र है और शत्रु-नगर का विनाश करने वाला पुरन्दर, कहलाता है ॥

विवेचन—शब्दनय काल आदि के भेद से पदार्थ मे भेद मानता है पर समभिरूढ़ उससे एक कदम आगे बढ़कर काल आदि

का भेद न होने पर भी केवल पर्याय-वाची शब्दों के भेद से ही पदार्थ में भेद मान लेता है।

इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्द--तीनों एक इन्द्र के वाचक हैं किन्तु समभिरूढ़ नय इन शब्दों की व्युत्पत्ति के भेद पर दृष्टि दौड़ाता है और कहता है कि जब तीनों शब्दों की व्युत्पत्ति पृथक्-पृथक् है तब तीनों शब्दों का वाच्य पदार्थ एक कैसे हो सकता है ? अतः पर्याय-वाची शब्द के भेद से अर्थ में भेद मानना चाहिये।

इस प्रकार समभिरूढ़ नय अर्थ सम्बन्धी अभेद को गौण करके पर्याय-भेद से अर्थ में भेद स्वीकार करता है।

समभिरूढ़ नयाभास

पर्यायध्वनीनामभिधेयनानात्वमेव कक्षीकुर्वाणस्तदाभासः ॥ ३८ ॥

यथा इन्द्रः शक्रः पुरन्दर इत्यादयः शब्दा भिन्नाभिधेया एव, भिन्नशब्दत्वात्, करिकुरङ्गतुरङ्गवदित्यादिः ॥३९॥

अर्थ--एकान्त रूप से पर्याय-वाचक शब्दों के वाच्य अर्थ में भेद मानने वाला अभिप्राय समभिरूढ़ नयाभास है॥

जैसे--इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि शब्द भिन्न-भिन्न पदार्थ के वाचक हैं। क्योंकि वे भिन्न-भिन्न शब्द है, जैसे करी (हाथी) कुरंग (हिरन) और तुरंग (घोड़ा) शब्द॥

विवेचन--समभिरूढ़नय पर्याय-भेद से अर्थ में भेद स्वीकार करता है पर अभेद का निषेध नहीं करता, उसे केवल गौण कर देता

है समभिरूढ़ नयाभास पर्यायवाचक शब्दों के अर्थ में रहने वाले अभेद का निषेध करके एकान्त भेद का ही समर्थन करता है। इस-लिये यह नयाभास है।

एवंभूत नय

शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाऽऽविष्टमर्थं वाच्य-त्वेनाभ्युपगच्छन्नेवंभूतः ॥ ४० ॥

यथा—इन्दनमनुभवन्निन्द्रः शकनक्रियापरिणतः शक्रः, पूर्दारणप्रवृत्तः पुरन्दर इत्युच्यते ॥ ४१ ॥

अर्थ—शब्द की प्रवृत्ति की निमित्त रूप क्रिया से युक्त पदार्थ को उस शब्द का वाच्य मानने वाला नय एवंभूत नय है॥

जैसे—इन्दन (ऐश्वर्य-भोग) रूप क्रिया के होने पर ही इन्द्र कहा जा सकता है, शकन (सामर्थ्य) रूप क्रिया के होने पर ही शक्र कहा जा सकता है और पूर्दारण (शत्रु नगर का नाश) रूप क्रिया के होने पर ही पुरन्दर कहा जा सकता है।

विवेचन—एवंभूत नय वह दृष्टिकोण है जिसके अनुसार प्रत्येक शब्द क्रियाशब्द ही है। प्रत्येक शब्द से किसी न किसी क्रिया का अर्थ प्रकट होता है। ऐसी अवस्था में; जिस शब्द से जिस क्रिया का भाव प्रकट होता हो, उस क्रिया से युक्त पदार्थ को उसी समय उस शब्द से कहा जा सकता है। जिस समय मे वह क्रिया विद्यमान न हो उस समय उस क्रिया का सूचक शब्द प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। जैसे पाचक शब्द से पकाने की क्रिया का बोध होता है, अतएव जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु को पका रहा हो तभी उसे

पाचक कहा जा सकता है, अन्य समय में नहीं। यही भाव इन्द्र, शक्र और पुरन्दर शब्दों के उदाहरण से समझाया गया है। इस दृष्टि-कोण को एवंभूत नय कहते हैं।

एवम्भूत नयाभास

क्रियाऽनाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपंस्तु तदा-भासः ॥४२॥

यथा–विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्द-वाच्यं, घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात्, पटवदि-त्यादिः ॥ ४३ ॥

अर्थ—क्रिया से रहित वस्तु को उस शब्द का वाच्य मानने का निषेध करने वाला अभिप्राय एवंभूत नयाभास है ॥

जैसे—विशेष प्रकार की चेष्टा से रहित घट नामक वस्तु, घट शब्द का वाच्य नहीं है क्योंकि वह घट शब्द की प्रवृत्ति का कारण रूप क्रिया से रहित है, जैसे पट—आदि ॥

विवेचन—एवंभूत नय अमुक क्रिया से युक्त पदार्थ को ही उस क्रिया-वाचक शब्द से अभिहित करता है, किन्तु अपने से भिन्न दृष्टिकोण का निषेध नहीं करता। जो दृष्टिकोण एकान्त रूप से क्रिया-युक्त पदार्थ को ही शब्द का वाच्य मानने के साथ, उस क्रिया से रहित वस्तु को उस शब्द के वाच्य होने का निषेध करता है वह एवंभूत नयाभास है। एवंभूत नयाभास का दृष्टिकोण यह है कि अगर घटन क्रिया न होने पर भी घट को घट कहा जाय तो पट या अन्य पदार्थों को भी घट कह देना अनुचित न होगा। फिर तो कोई

भी पदार्थ किसी भी शब्द से कहा जा सकेगा। इस अव्यवस्था का निवारण करने के लिए यही मानना उचित है कि जिस शब्द से जिस क्रिया का भान हो उस क्रिया की विद्यमानता में ही उस शब्द का प्रयोग किया जाय। अन्य समयों में उस शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

अर्थनय और शब्दनय का विभाग

एतेषु चत्वारः प्रथमेऽर्थनिरूपणप्रवणत्वादर्थनयाः॥४४॥
शेषास्तु त्रय शब्दवाच्यार्थगोचरतया शब्दनयाः ॥४५॥

अर्थ—इन सातों नयों में पहले के चार नय पदार्थ का निरूपण करने वाले हैं इसलिए वे अर्थनय हैं॥

अन्तिम तीन नय शब्द के वाच्य अर्थ को विषय करने वाले हैं इस कारण उन्हें शब्दनय कहते हैं॥

विवेचन—नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र, पदार्थ का प्ररूपण करते हैं इसलिए उन्हें अर्थनय कहा गया है और शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत—यह तीन नय, किस शब्द का वाच्य क्या होता है—यह निरूपण करते है, इसलिए यह शब्द नय कहलाते हैं।

नयों के विषय में अल्पबहुत्व

पूर्वो पूर्वो नयः प्रचुरगोचरः, परः परस्तु परिमित-विषयः ॥ ४६ ॥

अर्थ—सात नयों में पहले-पहले के नय अधिक-अधिक विषय वाले हैं और पिछले-पिछले कम विषय वाले हैं।

विवेचन—सातों नयों के विषय की न्यूनाधिकता यहाँ सामान्य रूप से बताई गई है। पहले वाला नय विशाल विषय वाला और पीछे का नय संकुचित विषय वाला है। तात्पर्य यह है कि नैगम नय सबसे विशाल दृष्टिकोण है। फिर उत्तरोत्तर दृष्टिकोणों में सूक्ष्मता आती गई है। विशेष विवरण सूत्रकार ने स्वयं दिया है।

अल्पबहुत्व का स्पष्टीकरण

सन्मात्रगोचरात् संग्रहान्नैगमो भावाभावभूमिकत्वाद् भूमविषयः ॥ ४७ ॥

सद्विशेषप्रकाशकाद् व्यवहारतः संग्रहः समस्तसत्समूहोपदर्शकत्वात् बहुविषयः ॥ ४८ ॥

वर्त्तमानविषयादृजुसूत्राद् व्यवहारस्त्रिकालविषयावलम्बित्वादनल्पार्थः ॥ ४९ ॥

कालादिभेदेन भिन्नार्थोपदर्शिनः शब्दादृ-ऋजुसूत्रस्तद्विपरीतवेदकत्वान्महार्थः ॥ ५० ॥

प्रतिपर्यायशब्दमर्थभेदमभीप्सतः समभिरूढाच्छब्दस्तद्विपर्ययानुयायित्वात् प्रभूतविषयः ॥ ५१ ॥

प्रतिक्रियं विभिन्नमर्थं प्रतिजानानादेवंभूतात् समभिरूढस्तदन्यथार्थस्थापकत्वान्महागोचरः ॥ ५२ ॥

अर्थ—सिर्फ सत्ता को विषय करने वाले संग्रहनय की अपेक्षा सत्ता और असत्ता को विषय करने वाला नैगम नय अधिक विषय वाला है॥

थोड़े से सत् पदार्थों को विषय करने वाले व्यवहार नय की अपेक्षा, समस्त सत् पदार्थों को विषय करने वाला संग्रहनय अधिक विषय वाला है ॥

वर्त्तमान क्षणवर्त्ती पर्याय मात्र को विषय करने वाले ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा त्रिकालवर्ती पदार्थ को विषय करने वाला व्यवहारनय अधिक विषय वाला है ॥

काल आदि के भेद से पदार्थ में भेद बताने वाले शब्दनय की अपेक्षा, काल आदि का भेद होने पर भी अभिन्न अर्थ बताने वाला ऋजुसूत्रनय अधिक विषय वाला है ॥

पर्यायवाची शब्द के भेद से पदार्थ में भेद मानने वाले समभिरूढ़नय की अपेक्षा, पर्यायवाची शब्द का भेद होने पर भी पदार्थ में भेद न मानने वाला शब्दनय अधिक विषय वाला है ॥

क्रिया के भेद से अर्थ में भेद मानने वाले एवंभूतनय की अपेक्षा, क्रिया-भेद होने पर भी अर्थ में भेद न मानने वाला समभिरूढ़नय अधिक विषय वाला है ॥

विवेचन—सातों नयों में उत्तरोत्तर सूक्ष्मता किस प्रकार आती गई है, यह क्रम यहाँ बताया है। नैगम-नय सत्ता और असत्ता दोनों को विषय करता है, संग्रहनय केवल सत्ता को विषय करता है, व्यवहार थोड़े से सत् पदार्थों को विषय करता है, ऋजुसूत्रनय वर्त्तमान क्षणवर्त्ती पर्याय को ही विषय करता है, शब्दनय काल, कारक आदि का भेद होने पर पदार्थ में भेद मानता है, समभिरूढ़ नय काल आदि का भेद न होने पर भी शब्द-भेद से ही पदार्थ में भेद मानता है और एवंभूत नय क्रिया के भेद से ही

पदार्थ को भिन्न मान लेता है। इस प्रकार नय क्रमशः सूक्ष्मता की ओर बढ़ते हैं और एवंभूतनय सूक्ष्मता की पराकाष्ठा कर देता है।

नयसप्तभंगी

नयवाक्यमपि स्वविषये प्रवर्त्तमानं विधिप्रतिषेधाभ्यां-सप्तभंगीमनुव्रजति ॥ ५३ ॥

अर्थ—नय-वाक्य भी अपने विषय में प्रवृत्ति करता हुआ विधि और निषेध की विवक्षा से सप्तभंगी को प्राप्त होता है।

विवेचन—विकलादेश, नयवाक्य कहलाता है। उसका स्वरूप पहले बताया जा चुका है। जैसे विधि और निषेध की विवक्षा से प्रमाण-सप्तभंगी बनती है उसी प्रकार नय की भी सप्तभंगी बनती है। नय-सप्तभंगी में भी 'स्यात्' पद और 'एव' लगाया जाता है। प्रमाण-सप्तभंगी सम्पूर्ण वस्तु के स्वरूप को प्रकाशित करती है और नय-सप्तभङ्गी वस्तु के एक अंश को प्रकाशित करती है। यही दोनो में अन्तर है।

नय का फल

प्रमाणवदस्य फलं व्यवस्थापनीयम् ॥५४॥

अर्थ—प्रमाण के समान नय के फल की व्यवस्था करना चाहिए।

विवेचन—प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान की निवृत्ति होना बताया गया है, वही फल नय का भी है। किन्तु प्रमाण से वस्तु सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति होती है और नय से वस्तु के अंश-सम्ब-

न्धी अज्ञान की निवृत्ति होती है। इसी प्रकार वस्तु के अंश-विषयक उपादानबुद्धि, हानबुद्धि और उपेक्षाबुद्धि नय का परोक्षफल समझना चाहिए।

दोनो प्रकार का फल प्रमाण से कथंचित् भिन्न कथंचित् अभिन्न है, इसी प्रकार नय का फल नय से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है।

प्रमाता का स्वरूप

प्रमाता प्रत्यक्षादिप्रसिद्ध आत्मा ॥ ५५ ॥

चैतन्यस्वरूपः परिणामी कर्त्ता साक्षाद्भोक्ता स्वदेह-परिमाणः प्रतिक्षेत्रं भिन्नः पौद्गलिकादृष्टवांश्चायम् ॥५६॥

अर्थ—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से सिद्ध आत्मा प्रमाता कहलाता है ॥

आत्मा चैतन्यमय है, परिणमनशील है, कर्मों का कर्त्ता है, कर्मफल का साक्षात् भोक्ता है, अपने प्राप्त शरीर के बराबर है, प्रत्येक शरीर में भिन्न है और पुद्गलरूप अदृष्ट (कर्म) वाला है।

विवेचन—चार्वाक लोग आत्मा नहीं मानते। उनके मत का खण्डन करने के लिए यहाँ यह बताया गया है कि आत्मा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण से सिद्ध है। 'मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करता है। तथा 'रूप आदि के ज्ञान का कोई कर्त्ता अवश्य है, क्योकि वह क्रिया है, जो क्रिया होती है, उसका कोई कर्त्ता अवश्य होता है, जैसे काटने की क्रिया। जानने की क्रिया का जो कर्त्ता है वही आत्मा है। इस प्रकार

अनुमान से भी आत्मा सिद्ध है । इसके अतिरिक्त 'एगे आया' इत्यादि आगमों से भी आत्मा सिद्ध है ।यह आत्मा चैतन्यमय आदि विशेषणों से विशिष्ट है ।

चैतन्य स्वरूप—इस विशेषण से नैयायिक आदि का खण्डन होता है, क्योंकि वे आत्मा को चैतन्य रूप नहीं मानते ।

परिणामी—इस विशेषण से सांख्य मत का निराकरण होता है, क्योकि सांख्य आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं, परिणमन-शील नही मानते ।

कर्त्ता-यह विशेषण भी सांख्य-मत के निराकरण के लिए है । सांख्य आत्मा को अकर्त्ता मानते है और प्रकृति को कर्त्ता मानते हैं ।

साक्षात् भोक्ता—यह विशेषण भी सांख्य-मत के खण्डन के लिए है । सांख्य आत्मा को कर्म-फल का साक्षात् भोगने वाला नही मानते।

स्वदेह परिमाण—इस विशेषण से नैयायिक और वैशेषिक मत का खण्डन किया गया है, क्योंकि वे आत्मा को आकाश की भाँति व्यापक मानते हैं ।

प्रतिशरीरभिन्न—इस विशेषण से वेदान्त मत का खण्डन किया गया है, क्योंकि वेदान्त मत मे एक ही आत्मा माना गया है । वे समस्त शरीरों में एक ही आत्मा मानते हैं ।

पौद्गलिक अदृष्टवान्—यह विशेषण नास्तिक मत का खण्डन करता है, क्योंकि नास्तिक लोग अदृष्ट नहीं मानते । तथा जो लोग अदृष्ट मानते हैं किन्तु उसे पौद्गलिक नहीं मानते उनके मत का भी इससे खण्डन होता है ।

मुक्ति का स्वरूप

तस्योपात्तपुंस्त्रीशरीरस्य सम्यग्ज्ञानक्रियाभ्यां कृत्स्न-कर्मक्षयस्वरूपा सिद्धिः ॥ ५७ ॥

अर्थ—पुरुष का शरीर या स्त्री का शरीर पाने वाले आत्मा को सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से, समस्त कर्म-क्षय रूप मुक्ति प्राप्त होती है।

विवेचन—आत्मा पुरुष या स्त्री का शरीर पाकर सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के द्वारा ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों का पूर्ण रूप से क्षय करता है। इसी को मुक्ति कहते हैं। यहाँ 'स्त्री का शरीर' कह कर स्त्रीमुक्ति का निषेध करने वाले दिगम्बर सम्प्रदाय का निरास किया गया है। कोई लोग अकेले ज्ञान से मुक्ति मानते हैं, कोई अकेली क्रिया से मुक्ति मानते हैं। उनका खंडन करने के लिए ज्ञान और क्रिया–दोनो का ग्रहण किया है।

सम्यग्दर्शन भी मोक्ष का कारण है किन्तु वह सम्यग्ज्ञान का सहचर है, जहाँ सम्यग्ज्ञान होगा वहाँ सम्यग्दर्शन अवश्य होगा। इसीलिये यहाँ सम्यग्दर्शन को अलग नहीं बताया है।

अष्टम परिच्छेद

वाद का निरूपण

वाद का लक्षण

विरुद्धयोर्धर्मयोरेकधर्मव्यवच्छेदेन स्वीकृततदन्यधर्मव्यवस्थापनार्थं साधनदूषणवचनं वादः ॥ १ ॥

अर्थ—परस्पर विरोधी दो धर्मों में से, एक का निषेध करके अपने मान्य दूसरे धर्म की सिद्धि के लिए साधन और दूषण का प्रयोग करना वाद है।

विवेचन—आत्मा की सर्वथा नित्यता और कथंचित् नित्यता ये दो विरोधी धर्म हैं। इनमें से किसी भी एक धर्म को स्वीकार करके, और दूसरे धर्म का निषेध करके, वादी और प्रतिवादी अपने पक्ष को साधने के लिए और विरोधी पक्ष को दूषित करने के लिए जो वचन-प्रयोग करते हैं वह वाद कहलाता है। वादी को अपने पक्ष की सिद्धि और पर पक्ष का निराकरण-दोनों करने पड़ते हैं और इसी प्रकार प्रतिवादी को भी दोनों ही कार्य करने पड़ते हैं।

वादी-प्रारम्भक के भेद

प्रारम्भकश्चात्र जिगीषुः, तत्त्वनिर्णिनीषुश्च ॥ २ ॥

अर्थ—दो प्रकार के प्रारम्भक होते हैं—(१) जिगीषु-विजय की इच्छा करने वाला और (२) तत्त्वनिर्णिनीषु—तत्त्व के निर्णय का इच्छुक।

जिगीषु का स्वरूप

स्वीकृतधर्मव्यवस्थापनार्थं साधनदूषणाभ्यां परं पराजेतुमिच्छुः जिगीषुः ॥ ३ ॥

अर्थ—स्वीकार किये हुए धर्म की सिद्धि करने के लिए, स्व-पक्ष के साधन और पर-पक्ष के दूषण द्वारा प्रतिवादी को जीतने की इच्छा रखने वाला जिगीषु कहलाता है।

तत्त्वनिर्णिनीषु का स्वरूप

तथैव तत्त्वं प्रतितिष्ठापयिषुस्तत्त्वनिर्णिनीषुः ॥ ४ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त रीति से तत्त्व की स्थापना करने का इच्छुक तत्त्वनिर्णिनीषु कहलाता है।

विवेचन—वाद आरम्भ करने वाला चाहे विजय का इच्छुक हो, चाहे तत्त्व निर्णय का इच्छुक हो, उसे अपने पक्ष को प्रामाणिक रूप से सिद्ध करना पड़ता है और पर-पक्ष को दूषित करना पड़ता है। जिगीषु और तत्त्वनिर्णिनीषु का भेद वाद के उद्देश्य पर ही अवलम्बित रहता है स्वपक्ष-साधन और परपक्ष-दूषण तो दोनो के लिए समान कार्य हैं।

तत्त्वनिर्णिनीषु के भेद

अयं च द्वेधा—स्वात्मनि परत्र च ॥ ५ ॥

आद्यः शिष्यादिः ॥ ६ ॥

द्वितीयो गुर्वादिः ॥ ७ ॥

अयं द्विविधः क्षायोपशमिकज्ञानशाली केवली च ॥८॥

अर्थ—तत्त्वनिर्णिनीषु दो प्रकार के हैं—(१) स्वात्मनि तत्त्व-निर्णिनीषु और (२) परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु ॥

शिष्य आदि स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु हैं ॥

गुरु आदि परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु हैं ॥

परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु भी दो प्रकार के होते हैं। क्षायोपशमिक-ज्ञानी और केवली ॥

विवेचन—अपने आपके लिए तत्त्वबोध की इच्छा रखने वाले स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु कहलाते हैं और दूसरे को तत्त्व-बोध कराने की इच्छा रखने वाले परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु कहलाते हैं। स्वा-त्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु शिष्य, मित्र या और कोई सहयोगी होता है और परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु गुरु, मित्र या अन्य सहयोगी हो सकता है। इस प्रकार वाद का प्रारम्भ करने वाले चार प्रकार के होते हैं—(१) जिगीषु (२) स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु (३) क्षायोपशमिकज्ञानी परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु और (४) केवलीपरत्रतत्त्वनिर्णिनीषु।

प्रत्यारम्भक

एतेन प्रत्यारम्भकोऽपि व्याख्यातः ॥ ६ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त कथन से प्रत्यारम्भक की भी व्याख्या होगई।

विवेचन—प्रारम्भक के चार भेद बताये हैं, वही चार भेद प्रत्यारम्भक के भी समझने चाहिए। इस प्रकार एक-एक प्रारम्भक के साथ चारों प्रत्यारम्भको का विवाद हो तो वाद के सोलह भेद हो सकते हैं। किन्तु जिगीषु का स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु के साथ, स्वा-त्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु का जिगीषु के साथ, स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु का स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु के साथ और केवली का केवली के साथ वाद होना सम्भव नहीं है; इसलिए चार भेद कम होने से वाद के

बारह भेद ही होते हैं। प्रारम्भक का किस प्रत्यारम्भक के साथ वाद होता है और किसके साथ नहीं, यह इस नक्शे से स्पष्ट ज्ञात होगा :—

प्रारम्भक	प्रत्यारंभक				
	जिगीषु	स्वा. त. नि.	प. त. नि. क्षायो.	प. त. वि. केवली	सम्भव संख्या
जिगीषु	हो सकता है	०	हो सकता है	हो सकता है	३
स्वा० तत्त्वनिर्णिनीषु	०	०	,,	,,	२
प. त. क्षायोपशमिकज्ञानी	हो सकता है	हो सकता है	,,	,,	४
प. त. केवली	,,	,,	,,	०	३
सम्भव संख्या	३	२	४	३	१२

अंग-नियम

तत्र प्रथमे प्रथमतृतीयतुरीयाणां चतुरङ्ग एव, अन्यतमस्याप्यपाये जयपराजयव्यवस्थादिदौःस्थ्यापत्तेः ॥ १० ॥

अर्थ—पूर्वोक्त चार प्रारम्भकों में से पहले जिगीषु के होने पर जिगीषु, परत्रतत्त्वनिर्णिनीषु क्षायोपशमिकज्ञानी और केवली प्रत्यारम्भक का वाद चतुरंग होता है। किसी भी एक अङ्ग के अभाव में जय-पराजय की ठीक व्यवस्था नहीं हो सकती।

विवेचन—वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति, वाद के यह चार अङ्ग होते हैं। जिगीषुवादी के साथ उक्त तीन प्रतिवादियों का वाद हो तो चारों अंगों की आवश्यकता है।

द्वितीये तृतीयस्य कदाचिद् द्व्यङ्गः, कदाचिद् त्र्यङ्गः।११।

अर्थ—दूसरे वादी-स्वात्मनितत्त्वनिर्णिनीषु का तीसरे प्रतिवादी—क्षायोपशमिकज्ञानी परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु का वाद कभी दो अङ्ग वाला और कभी तीन अङ्ग वाला होता है।

विवेचन—स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु जय-पराजय की इच्छा से वाद में प्रवृत्त नहीं होता, अतः उसके साथ परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु क्षायोपशमिकज्ञानी का वाद होने पर सभ्य और सभापति की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सभ्य और सभापति जय-पराजय की व्यवस्था और कलह आदि की शान्ति करने के लिए होते हैं। अलबत्ता जब क्षायोपशमिकज्ञानी परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु तत्त्व का निर्णय न कर सके तो दोनों को सभ्यों की आवश्यकता होती है। इसीलिये कभी दो अंग वाला और कभी तीन अङ्ग वाला वाद बतलाया गया है।

तत्रैव द्व्यंगस्तुरीयस्य ॥ १२ ॥

अर्थ—स्वात्मनि तत्त्वनिर्णिनीषु वादी का चौथे प्रतिवादी—केवली के साथ दो अङ्ग वाला वाद होता है।

विवेचन—केवली भगवान् , तत्त्व-निर्णय अवश्य कर देते हैं अतएव इस वाद में सभ्यों की भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

तृतीये प्रथमादीनां यथायोगं पूर्ववत् ॥ १३ ॥

अर्थ—परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु क्षायोपशमिकज्ञानी वादी हो तो, प्रथम, द्वितीय आदि प्रतिवादियों का पहले के समान यथायोग्य वाद होता है।

विवेचन—यदि तीसरा वादी हो तो उसके साथ प्रथम प्रतिवादी का चतुरंगवाद होगा, द्वितीय और तृतीय प्रतिवादी का कभी दो अङ्ग वाला, कभी तीन अङ्ग वाला वाद होगा और चतुर्थ प्रतिवादी के साथ दो अङ्ग वाला ही वाद होगा।

तुरीये प्रथमादीनामेवम् ॥ १४ ॥

अर्थ—परत्र तत्त्वनिर्णिनीषु केवली वादी हों तो प्रथम प्रतिवादी के साथ चतुरंग और द्वितीय तथा तृतीय प्रतिवादी के साथ दो अङ्ग वाला वाद ही होता है।

वाद के चार अंग

वादिप्रतिवादिसभ्यसभापतयश्चत्वार्यङ्गानि ॥ १५ ॥

अर्थ—वाद के चार अंग होते हैं—वादी, प्रतिवादी, सभ्य और सभापति।

वादी-प्रतिवादी का लक्षण

प्रारम्भकप्रत्यारम्भकावेव मल्लप्रतिमल्लन्यायेन वादि-प्रतिवादिनौ ॥ १६ ॥

अर्थ—मल्ल और प्रतिमल्ल की भाँति प्रारम्भक और प्रत्यारम्भक क्रम से वादी और प्रतिवादी कहलाते हैं।

वादी-प्रतिवादी का कर्त्तव्य

प्रमाणतः स्वपक्षस्थापनप्रतिपक्षप्रतिक्षेपावनयोः कर्म ॥

अर्थ—प्रमाण से अपने पक्ष की स्थापना करना और विरोधी पक्ष का खण्डन करना वादी और प्रतिवादी का कर्त्तव्य है।

विवेचन—केवल अपने पक्ष की स्थापना कर देने से या केवल विरोधी पक्ष का खण्डन कर देने से तत्त्व का निर्णय नहीं होता। अतः तत्त्वनिर्णय के लिए दोनो को दोनो कार्य करना चाहिए।

सभ्यों का लक्षण

वादिप्रतिवादिसिद्धान्ततत्त्वनदीष्णत्व-धारणा-बाहुश्रुत्य-प्रतिभा-क्षान्ति-माध्यस्थैरुभयाभिमताः सभ्याः ॥ १८ ॥

अर्थ—जो वादी और प्रतिवादी के सिद्धान्त-तत्त्व में कुशल हों; धारणा, बहुश्रुतता, प्रतिभा, क्षान्ति और मध्यस्थता से युक्त हों तथा वादी और प्रतिवादी द्वारा स्वीकार किये गये हों, ऐसे विद्वान् सभ्य होते हैं।

सभ्यों का कर्त्तव्य

वादिप्रतिवादिनौ यथायोगं वादस्थानककथाविशेषांगीकारणाऽग्रवादोत्तरवादनिर्देशः, साधकबाधकोक्तिगुणदोषावधारणम्, यथावसरं तत्फलप्रकाशनेन कथाविरमणम्, यथासंभवं सभायां कथाफलकथनं चैषां कर्माणि ॥ १६ ॥

अर्थ—वादी और प्रतिवादी को वाद के स्थान का निर्णय करना, कथा-विशेष को स्वीकार कराना, पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष नियत कर देना, बोले हुए साधक और बाधक प्रमाणों के गुण दोष का निश्चय करना, अवसर आने पर (जब वादी, प्रतिवादी या दोनों असली विषय को छोड़कर इधर-उधर भटकने लगें तब) तत्त्व को प्रकट करके वाद को समाप्त करना, और यथायोग्य वाद के फल (जय-पराजय) की घोषणा करना, सभ्यों का कर्त्तव्य है।

सभापति का लक्षण

प्रज्ञाऽऽज्ञैश्वर्यक्षमामाध्यस्थसम्पन्नः सभापतिः ॥२०॥

अर्थ—प्रज्ञा, आज्ञा, ऐश्वर्य, क्षमा और मध्यस्थता गुणों से युक्त सभापति होता है।

विवेचन—जो स्वयं बुद्धिशाली हो, आज्ञा प्रदान कर सकता हो, प्रभावशाली हो, क्षमाशील हो और वादी तथा प्रतिवादी के प्रति निष्पक्ष हो वही सभापति पद के योग्य है।

सभापति का कर्त्तव्य

वादिसभ्याभिहितावधारणकलहव्यपोहादिकं चास्य कर्म ॥ २१ ॥

अर्थ—वादी, प्रतिवादी और सभ्यों के कथन का निश्चय करना, तथा कलह मिटाना आदि सभापति के कर्त्तव्य हैं।

विवेचन—वादी-प्रतिवादी और सभ्यों के कथन का निश्चय करना तथा वादी और प्रतिवादी में अगर कोई शर्त हुई हो तो उसे पूर्ण कराना अथवा पारितोषिक वितरण करना सभापति का कर्त्तव्य है।

वादी-प्रतिवादी के बोलने का नियम

सजिगीषुकेऽस्मिन् यावत्सभ्यापेक्षं स्फूर्तौ वक्तव्यम् ॥२२॥

अर्थ—जब जिगीषु का जिगीषु के साथ वाद हो तो हिम्मत होने पर जब तक सभ्य चाहें तब तक बोलते रहना चाहिये।

विवेचन—जब तक वादी प्रतिवादी में से कोई एक स्वपक्ष-साधन और परपक्ष-दूषण करने में असमर्थ नहीं होता तब तक किसी विषय का निर्णय नहीं होता। इस अवस्था में वादी-प्रतिवादी को अपना अपना वक्तव्य चालू रखना चाहिये। जब सभ्य बोलने का निषेध करदें तब बंद कर देना चाहिए। यह जिगीषु-वाद के लिए है।

उभयोस्तत्त्वनिर्णिनीषुत्वे यावत्तत्त्वनिर्णयं यावत्स्फूर्ति च वाच्यम् ॥ २३ ॥

अर्थ—दोनों-वादी प्रतिवादी यदि तत्त्वनिर्णिनीषु हों तो तत्त्व का निर्णय होने तक उन्हें बोलना चाहिए। अगर तत्त्व-निर्णय न हो पावे और वादी या प्रतिवादी को आगे बोलना न सूझ पड़े तो जब तक सूझ पड़े तब तक बोलना चाहिए।

बंगाल संस्कृत एसोसिएशन

की प्रथमा परीक्षा के प्रश्नपत्र

सन् १६३६

पूर्णसंख्या—१००। समयः १२–४।

[सर्वे प्रश्नाः समानमानार्हाः। पञ्च एव प्रश्नाः समाधातव्याः।]

१। स्वमते कानि प्रमाणानि ? को वा नयः ? किञ्च तत्त्वम् ? एतत् सर्व्वं सूत्राण्युल्लिख्य वैशद्येन लेख्यम्।

२। को वा अवग्रहः ? का च ईहा ? कीदृशो व्यपदेशभेदः ? किञ्च अवधिज्ञानम् ? एतत् सर्व्वं सन्दर्भतो विशदीकृत्य लेखनीयम्।

३। "उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधन-सम्बन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहापर-नामा तर्कः"; "न तु त्रिलक्षणकादिः"; "व्याप्तिग्रहणसमयापेक्षया साध्यं धर्म्म एवान्यथा तदनुपपत्तेः"—सूत्राणामेषां ससङ्गतिकं व्याख्यानं कुर्व्वन्तु।

४। स्वमते अभावः कतिविधः ? तेषां सार्थक्यं लक्षणानि चोल्लेख्यानि।

५। का विरुद्धोपलब्धिः ? सा कतिविधा ? सूत्रमुल्लिख्य स्पष्टतया लेखनीया।

६। किं तावद् वचनलक्षणम् ? किं तस्यात्र प्रयोजनम् ? किं वा शब्दलक्षणं तत्प्रामाण्यञ्च ? तत् सर्व्वं सूत्रमुल्लिख्य व्याकरणीयम्।

७। "इतरथापि संवेदनात्" ; "विधिमात्रादिप्रधानतयापि तस्य प्रसिद्धेः" ; "तद्विपरीतस्तु विकलादेशः"—एषां सूत्राणां सङ्गति-प्रदर्शनपूर्व्वकं व्याख्यानं कुर्व्वन्तु श्रीमन्तः।

८। "यत् प्रमाणेन प्रसाध्यते तदस्य फलम्" ; "प्रमातुरपि स्वपरव्यवमितिक्रियायाः कथञ्चिद्भेदः"—अनयोः सूत्रयोः सङ्गतिं प्रदर्श्य व्याख्यानं कार्य्यम्।

९। व्याप्तेः तर्काभासस्य च लक्षणमुद्धृत्य व्याख्यायताम्।

१०। प्रत्यभिज्ञान-स्मृत्योश्च लक्षणं प्रदर्श्य सोदाहरणं व्याक्रियताम्।

सन् १९४१

पूर्णसंख्या—१००। समयः १२-४।

[सर्वे प्रश्नाः समानमानार्हाः। पञ्च एव प्रश्नाः समाधातव्याः।]

१। स्वाभिमतप्रमाणयोर्द्वयोः प्रत्यक्षपरोक्षयोः यया रीत्या अन्येषां प्रमाणानाम् अन्तर्भावः सा रीतिः प्रदर्शनीया।

२। अवायः; व्यपदेशः; अनवगतिप्रसङ्गः; विकलम्; केवलज्ञानम्; त्रिलक्षणकादिः; प्रसिद्धो धर्म्मी, इत्येषां पदानां लक्षणज्ञापकानि सूत्राणि समुल्लिख्य व्याख्यायन्ताम्।

३। सादृश्य-शक्ति-स्मरण-अभावानां स्वमते कस्मिन् प्रमाणे अन्तर्भावः ? तद् विशदरीत्या लेख्यम्।

बंगाल संस्कृत एसोसिएशन

की प्रथमा परीक्षा के प्रश्नपत्र

सन् १६३६

पूर्णसंख्या—१००। समयः १२-४

[सर्वे प्रश्नाः समानमानार्हाः। पञ्च एव प्रश्नाः समाधातव्याः।]

१। स्वमते कानि प्रमाणानि ? को वा नयः ? किञ्च तत्त्वम् ? एतत् सर्व्वं सूत्राण्युल्लिख्य वैशद्येन लेख्यम्।

२। को वा अवग्रहः ? का च ईहा ? कीदृशो व्यपदेशभेदः ? किञ्च अवधिज्ञानम् ? एतत् सर्व्वं सन्दर्भतो विशदीकृत्य लेखनीयम्।

३। "उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्यसाधनसम्बन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहापरनामा तर्कः" ; "न तु त्रिलक्षणकादिः" ; "व्याप्तिग्रहणसमयापेक्षया साध्यं धर्म्म एवान्यथा तदनुपपत्तेः"—सूत्राण्येषां ससङ्गतिकं व्याख्यानं कुर्व्वन्तु।

४। स्वमते अभावः कतिविधः ? तेषां सार्थक्यं लक्षणानि चोल्लेख्यानि।

५। का विरुद्धोपलब्धिः ? सा कतिविधा ? सूत्रमुल्लिख्य स्पष्टतया लेखनीया।

६। किं तावद् वचनलक्षणम् ? किं तस्यात्र प्रयोजनम् ? किं वा शब्दलक्षणं तत्प्रामाण्यञ्च ? तत् सर्व्वं सूत्रमुल्लिख्य व्याकरणीयम्।

७। "इतरथापि संवेदनात्" ; "विधिमात्रादिप्रधानतयापि तस्य प्रसिद्धेः" ; "तद्विपरीतस्तु विकलादेशः"—एषां सूत्राणां सङ्गति-प्रदर्शनपूर्व्वकं व्याख्यानं कुर्व्वन्तु श्रीमन्तः।

८। "यत् प्रमाणेन प्रसाध्यते तदस्य फलम्" ; "प्रमातुरपि स्वपरव्यवसितिक्रियायाः कथञ्चिद्भेदः"—अनयोः सूत्रयोः सङ्गति प्रदर्श्य व्याख्यानं कार्य्यम्।

९। व्याप्तेः तर्काभासस्य च लक्षणमुद्धृत्य व्याख्यायताम्।

१०। प्रत्यभिज्ञान-स्मृत्योश्च लक्षणं प्रदर्श्य सोदाहरणं व्याक्रियताम्।

सन् १९४१

पूर्णसंख्या—१००। समयः १२-४।

[सर्वे प्रश्नाः समानमानार्हाः। पञ्च एव प्रश्नाः समाधातव्याः।]

१। स्वाभिमतप्रमाणयोर्द्वयोः प्रत्यक्षपरोक्षयोः यया रीत्या अन्येषां प्रमाणानाम् अन्तर्भावः सा रीतिः प्रदर्शनीया।

२। अवायः; व्यपदेशः; अनवगतिप्रसङ्गः; विकलम्; केवलज्ञानम्; त्रिलक्षणकादिः; प्रसिद्धो धर्म्मी, इत्येषां पदानां लक्षणज्ञापकानि सूत्राणि समुल्लिख्य व्याख्यायन्ताम्।

३। सादृश्य-शक्ति-स्मरण-अभावानां स्वमते कस्मिन् प्रमाणे अन्तर्भावः ? तद् विशदरीत्या लेख्यम्।

४। साधर्म्य-वैधर्म्यदृष्टान्तानां सोदाहरणं सूत्राण्युल्लिख्य व्याख्यायन्ताम्।

५। प्रागभाव-प्रध्वंसाभाव-व्याप्य-व्यापकजातीनां सोदाहरणानि सूत्राणि समुद्धृत्य तानि व्याख्यायन्ताम्।

६। वर्णपदवाक्यात्मकं वचनम्; स च द्वेधा लौकिको लोकोत्तरश्च; स्यान्नास्त्येव सर्व्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः, इत्येतेषां सूत्राणां सोदाहरणा व्याख्या विधेया श्रीमद्भिः।

७। इतरथापि संवेदनात्; युगपद्विधिनिषेधात्मनोऽर्थस्यावाचक एवासौ इति वचो न चतुरस्रम्, प्रतिपर्य्यायं प्रतिपाद्य पर्य्यनुयोगानां सप्तानामेव सम्भवात्—एतेषां सूत्राणाम् उदाहरणमुखेन व्याख्यानं कुर्व्वन्तु श्रीमन्तः।

८। यत् प्रमाणेन प्रसाध्यते तदस्य फलम्; प्रमातुरपि स्वपरव्यवमितिक्रियायाः कथञ्चिद्भेदः; सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमिव यदा भासते तत्तदाभासम्—एतेषां सूत्राणां साशयं व्याख्यानं कार्य्यं श्रीमद्भिः।

९। शब्दस्य नित्यत्वानित्यत्वसाधने सूत्राणि प्रदर्श्य स्वमते सिद्धान्तः प्रदर्शनीयः।

१०। स्वमते किं निर्व्वाणलक्षणम्? को वा वीतरागः, अवीतरागश्च कः इत्येतत् सर्व्वं ग्रन्थतो वैशद्येन लेखनीयम्।

—

४। साधर्म्य-वैधर्म्यदृष्टान्तानां सोदाहरणं सूत्राण्युल्लिख्य व्याख्यायन्ताम्।

५। प्रागभाव-प्रध्वंसाभाव-व्याप्य-व्यापकजातीनां सोदाहरणानि सूत्राणि समुद्धृत्य तानि व्याख्यायन्ताम्।

६। वर्णपदवाक्यात्मकं वचनम्; स च द्वेधा लौकिको लोकोत्तरश्च; स्यान्नास्त्येव सर्व्वमिति निषेधकल्पनया द्वितीयः, इत्येतेषां सूत्राणां सोदाहरणा व्याख्या विधेया श्रीमद्भिः।

७। इतरथापि संवेदनात्; युगपद्विधिनिषेधात्मनोऽर्थस्यावाचक एवासौ इति वचो न चतुरस्रम् प्रतिपर्य्यायं प्रतिपाद्य पर्य्यनुयोगानां सप्तानामेव सम्भवात्—एतेषां सूत्राणाम् उदाहरणमुखेन व्याख्यानं कुर्व्वन्तु श्रीमन्तः।

८। यत् प्रमाणेन प्रसाध्यते तदस्य फलम्; प्रमातुरपि स्वपरव्यवसितिक्रियायाः कथञ्चिद्भेदः; साव्यवहारिकप्रत्यक्षमिव यदा भासते तत्तदाभासम्—एतेषां सूत्राणां साशयं व्याख्यानं कार्य्यं श्रीमद्भिः।

९। शब्दस्य नित्यत्वानित्यत्वसाधने सूत्राणि प्रदर्श्य स्वमते सिद्धान्तः प्रदर्शनीयः।

१०। स्वमते किं निर्व्वाणलक्षणम्? को वा वीतरागः, अवीतरागश्च कः इत्येतत् सर्व्वं ग्रन्थतो वैशद्येन लेखनीयम्।

—